सस्ता-साहित्य-मण्डल
अड़तालीसवाँ ग्रन्थ

अनासक्तियोग और

गीताबोध

लेखक
मोहनदास करमचन्द गाँधी

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य-मण्डल,
अजमेर।

पहली बार २,०००
दूसरी बार ७,०००
तीसरी बार ५,०००

परिवर्तित संस्करण

मूल्य
छः आना

अगस्त
उन्नीस-सौ-बत्तीस

मुद्रक
जीतमल लूणिया,
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर।

अनुक्रमणिका

दो शब्द

पहले हमने पू० गाँधीजी की अनासक्तियोग नामक गीता की टीका प्रकाशित की थी। अब तक यह कई जगहों से प्रकाशित भी हो चुकी है, हज़ारों प्रतियाँ बिक चुकी हैं, फिर भी आर्डर आ ही रहे हैं। इधर कुछ मित्रों का कहना था कि यदि इसके साथ मूल श्लोक भी दे दिये जायँ तो पुस्तक अधिक उपयोगी हो जायगी; अभी-तक मूल के लिए दूसरी गीता ख़रीदनी पड़ती है। यह सलाह हमें उचित जँची और फलस्वरूप इस संस्करण में मूल श्लोक भी दे दिये गये हैं।

इधर गत दो वर्षों में, यरवदा-मन्दिर से, समय-समय पर गाँधीजी गीता के प्रत्येक अध्याय के सम्बन्ध में छोटे-छोटे विवेचनात्मक लेख आत्मार्थी बन्धुओं के लिए भेजते रहे हैं। गुजराती में 'गीताबोध' के नाम से ये अलग प्रकाशित हुए थे। गांधीजी ने अपने गीता-सम्बन्धी दृष्टिकोण

को इसमें स्पष्ट किया है। इस गीता-बोध से गीताके पीछे जो भाव एवं निर्देष छिपे हैं, उनको समझने में बड़ी सहायता मिलती है। इसलिए मूल एवं टीका के साथ यह गीताबोध भी इस पुस्तक में हम दे रहे हैं। इस तरह तीनों चीजें एकत्र होने से पाठक विशेष लाभ उठा सकेंगे।

श्री काशीनाथ नारायण त्रिवेदी ने हमारे लिए गीताबोध का हिन्दी में अनुवाद कर दिया है इसके लिए हम उनके विशेष कृतज्ञ हैं।

उन भाइयों के लाभ के लिए, जिनके पास मूल तथा अनासक्तियोग पहले से ही है, हम 'गीताबोध' अलग भी प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है महात्माजी के दीर्घकालिक अनुभव एवं गीता के गम्भीर मनन से देश के अधिक-से-अधिक हिन्दी भाषा-भाषी भाई-बहन लाभ उठायेंगे।

—मंत्री

प्रस्तावना

[१]

जैसे स्वामी आनन्द आदि मित्रोंके प्रेमके वश होकर मैंने सत्य के प्रयोगभर के लिए आत्म-कथा लिखना आरम्भ किया था वैसी बात गीता के अनुवाद के सम्बन्ध में भी हुई है। "आप गीता का जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब आप एक बार समूची गीता का अनुवाद कर जायँ और उसपर जो टीका करनी हो वह करें और हम वह सब एक-एक बार पढ़ जायँ। इधर-उधर के श्लोकों से अहिंसादि का प्रतिपादन करना, यह मुझे तो उचित नहीं ऊँचता।" यह स्वामी आनन्द ने असहयोग के जमाने में मुझसे कहा था। मुझे उनकी दलील में सार जान पड़ा। मैंने जवाब दिया कि "अवकाश मिलने पर यह करूँगा।" फिर मैं जेल गया तो वहां गीता का अध्ययन कुछ विशेष गहराई से करने का मौक़ा मिला। लोकमान्य के ज्ञान का भण्डार पढ़ा। उन्होंने पहले मुझे मराठी, हिन्दी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और अनुरोध किया था कि मराठी न पढ़ सकूं तो गुजराती तो अवश्य पढ़ूँ। जेल के बाहर तो उसे नहीं पढ़ सका, पर जेल में गुजराती अनुवाद पढ़ा।

इसे पढ़ने पर गीता के सम्बन्ध में अधिक पढ़ने की इच्छा हुई और गीता-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उलटे-पलटे।

मुझे गीता का प्रथम परिचय एडविन आर्नल्ड के पद्य अनुवाद से सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीता का गुजराती अनुवाद पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई। और जितने अनुवाद हाथ लगे, पढ़ गया। परन्तु ऐसा पठन मुझे अपना अनुवाद जनताके सामने रखने का अधिकार बिलकुल नहीं देता। इसके सिवा मेरा संस्कृतज्ञान अल्प है, गुजराती का ज्ञान विद्वत्ता के विचार से कुछ नहीं है। फिर मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की?

गीता को मैंने जैसा समझा है उसी तरह उसका आचरण करने का मेरा और मेरे साथ रहनेवालों में से कई का बराबर उद्योग रहा है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदानग्रन्थ है। उसके अनुसार आचरण करने में निष्फलता नित्य आती है, पर यह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है; इस निष्फलता में हमें सफलता की फूटती हुई किरणों की झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा जनसमुदाय जिस अर्थ को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करता है वह अर्थ इस अनुवाद में है।

इसके सिवा स्त्री, वैश्य और शूद्र सरीखे जिन्हें अक्षर-ज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है, न इच्छा है परन्तु जिन्हें गीतारूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हींके लिए यह अनुवाद है। गुजराती भाषा का मेरा ज्ञान कम होनेपर भी उसके द्वारा गुजरातियों को मेरे पास जो कुछ-पूँजी हो वह दे जानेकी मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है। मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि गन्दे साहित्य के प्रवाह के जोर के इस समय में हिन्दू-धर्म में अद्वितीय गिने जानेवाले इस ग्रन्थ का सरल अनुवाद गुजराती जनता को मिले और उससे वह उस प्रवाह का सामना करने की शक्ति प्राप्त करे।

इस अभिलाषा में दूसरे गुजराती अनुवादों की अवहेलना नहीं है। उन सबका अपना स्थान भले ही हो, पर उनके विषय में अनुवादकों का आचार-रूपी अनुभव का दावा हो, ऐसा मेरी जान में नहीं है। इस अनुवाद के पीछे अड़तीस वर्ष के आचार के प्रयत्न का दावा है। इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन जिन्हें धर्म को आचरण में लाने की इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमें से शक्ति प्राप्त करें।

इस अनुवाद में मेरे साथियों की मेहनत मौजूद है। मेरा संस्कृतज्ञान बहुत अधूरा होने के कारण शब्दार्थ पर मुझे पूरा विश्वास न हो सकता था और केवल इतने के लिए इस अनुवाद को विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवाला देख गये हैं।

(२)

अब गीता के अर्थ पर आता हूँ।

सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहनेवाले द्वन्द्वयुद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओं की रचना हृदय के अन्दर होनेवाले युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है। धर्म का और गीता का विशेष विचार करने पर यह प्राथमिक स्फुरणा पक्की हो गई। महाभारत पढ़ने के बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान् ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया

है। उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु महाभारत में तो व्यास भगवान् ने उनका उपयोग केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकारने भौतिक युद्ध की आवश्यकता सिद्ध नहीं की, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ बाकी नहीं रखा।

इस महाग्रन्थ में गीता शिरोमणिरूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताता है। स्थितप्रज्ञ का दैहिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणों से ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-सरीखी पुस्तक की रचना होना संभव नहीं है।

गीता के कृष्ण मूर्तिमान शुद्धसम्पूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु काल्पनिक हैं। यहां कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सम्पूर्णावतार का आरोपण पीछे से किया हुआ है।

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुषविशेष।

जीवमात्र ईश्वर का अवतार है, परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है उसीको भावी प्रजा अवताररूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में ही कमी आती है, न सत्य को ही आघात पहुँचता है। "आदम खुदा नहीं; लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचारश्रेणी से कृष्ण रूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्य की अन्तिम शुभ अभिलाषा का सूचक है। ईश्वररूप हुए बिना मनुष्य का समाधान नहीं होता, उसे शान्ति नहीं मिलती। ईश्वररूप होने का प्रयत्न ही सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन जैसे सब धर्मग्रन्थों का विषय है वैसे ही गीता का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नहीं रची। परन्तु आत्मार्थी को आत्मदर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का उद्देश्य है। जो चीज हिन्दू-धर्मग्रन्थों में छिट-फुट दिखाई देती है उसे गीता ने अनेक रूप से

अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है कर्मफलत्याग।

इस मध्यबिन्दु के चारों ओर गीता की सारी सजावट की गई है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आस-पास तारामण्डल की भांति सज गये हैं। जहां देह है वहां कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नहीं है। तथापि शरीर को प्रभु-मंदिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपादन किया है। परन्तु कर्ममात्र में कुछ दोष तो है ही। मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्मबन्धन से अर्थात् दोषस्पर्श से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीता ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है— "निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफल का त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफलत्याग कहने-भर से ही नहीं हो जाती। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदयमन्थन से ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक तरह का ज्ञान तो बहुतेरे पण्डित पाते हैं। वेदादि उन्हें कण्ठ होते हैं। परन्तु उनमें से अधिकांश भोगादि में लीन

रहते हैं। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पांडित्य के रूप में न हो जाय, इसलिए गीताकारने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाकर उसे प्रथम स्थान दिया है। बिना भक्ति का ज्ञान नुकसान करता है। इसलिए कहा है, "भक्ति करो, तो ज्ञान मिल ही जायगा"। पर भक्ति तो 'सिर की बाजी' है, इसलिए गीताकार ने भक्ति के लक्षण स्थितप्रज्ञ के से बतलाये हैं।

तात्पर्य यह कि गीता की भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। गीता में बताये उपचारों का बाह्यचेष्टा या क्रिया के साथ कम से कम सम्बन्ध है। माला, तिलक और अर्घ्यादि साधनों का भले ही भक्त उपयोग करे, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी का द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भण्डार है, ममतारहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा संतोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दी है, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, हर्ष-शोक, भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे

स्तुति से खुशी और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकांतप्रिय है, स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों के भीतर संभव नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्म-दर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे एक रुपया देकर ज़हर भी खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ही यह नहीं हो सकता कि कि ज्ञान या भक्ति से बन्धन भी प्राप्त किया जा सके और मोक्ष भी। यहाँ तो साधन और साध्य बिलकुल एक नहीं तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्टा ही मोक्ष है। और गीता के मोक्ष का अर्थ है परम शान्ति।

किन्तु इस तरह के ज्ञान और भक्ति को कर्मफल-त्याग की कसौटी पर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पण्डित भी ज्ञानी माना जाता है। उसे कोई काम करने को नहीं होता। हाथ से लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्मबन्धन है। यज्ञशून्य जहाँ ज्ञानी गिना जाय वहाँ लोटा उठाने जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है बाह्य-

चारी × माला लेकर जप करने वाला । सेवा-कर्म करते भी उसकी माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है। चक्की चलाने या रोगी की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गों को गीता ने साफ कह दिया है—
"कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई।
जनकादि भी कर्म-द्वारा ही ज्ञानी हुए थे। यदि मैं भी आलस्यरहित होकर कर्म न करता रहूँ।तो इन लोकों का नाश हो जाय।" तो फिर लोगों के लिए तो पूछना ही क्या ?

परन्तु एक ओर से कर्ममात्र बंधनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धनमुक्त कैसे रहे ? जहाँतक मुझे मालूम है, इस पहेली को जिस तरह गीता ने हल किया है उस तरह दूसरे किसी भी धर्मग्रन्थ ने नहीं किया है। गीता का कहना है कि "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो," "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर

× जो बाह्याचार में लीन रहता है और शुद्ध भाव से मानता है कि यही भक्ति है।

कर्म करो।" यह गीता की वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है वह चढ़ता है।

यहाँ फलत्याग का कोई यह अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता नहीं। गीता में ऐसे अर्थ को कहीं स्थान नहीं है। फलत्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। वास्तव में फलत्यागी को हजारगुना फल मिलता है। गीता के फलत्याग में तो अपरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम की बात सोचता रहता है वह बहुत बार कर्म—कर्तव्य—भ्रष्ट हो जाता है। वह अधीर हो जाता है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग जाता है, एक कर्म से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में प्रवृत्त होता जाता है। परिणाम की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विषयान्ध की सी हो जाती है और अन्त में वह विषयी की भांति सारासार का, नीतिअनीत का विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करने के लिए मन-माने साधनों से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के ऐसे कटु परिणाम में से गीता-कार ने अनासक्ति अर्थात् कर्म-फल-त्याग का सिद्धान्त

निकाला और उसे संसार के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रक्खा है। साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं. "व्यापार आदि लौकिक व्यावहार में धर्म का पालन नहीं हो सकता, धर्म को जगह नहीं हो सकती, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ।" मेरी समझ में गीताकारने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच में ऐसा भेद नहीं रखा। बल्कि धर्म को व्यवहार में परिणत किया है। जो व्यवहार में न लाया जा सके वह धर्म धर्म नहीं है, यह सूचना मेरी समझ से गीता में विद्यमान है। अर्थात् गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ व्यभिचार आदि कर्म अपने आप त्याज्य हो जाते हैं। मानवजीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शान्ति उत्पन्न होती है। फलत्याग का यह अर्थ भी नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है, इतना होने के बाद जो मनुष्य परि-

णाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है वह फल-त्यागी है।

इस विचार-श्रेणी का अनुसरण करते हुए मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीता की शिक्षा को कार्य में परिणत करने वाले को अपने आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को लिया जाय, यह मालूम होगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती ही है। परन्तु अहिंसा का प्रतिपादन गीता का विषय नहीं है। गीता-काल के पहले भी अहिंसा परम धर्मरूप मानी जाती थी। गीता को तो अनासक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परन्तु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्ति में अहिंसा अपने आप ही आ जाती है तो गीताकारने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया ? गीता-युग में अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध एक बहुत साधारण वस्तु होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते हुए संकोच नहीं हुआ और न हो सकता था।

परन्तु फलत्याग के महत्त्व का अन्दाजा करते हुए गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहाँ निश्चित की थी; इस पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्त्व के सिद्धान्त संसार के सम्मुख उपस्थित करता है, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धान्तों का महत्त्व पूर्णरूप से जानता है या जानकर सब का सब भाषा में उपस्थित कर सकता है। इसमें काव्य और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अन्त ही नहीं है। जैसे मनुष्य का, वैसे ही महावाक्यों के अर्थ का भी विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास की जाँच कीजिए तो मालूम होगा कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ नित्य नये होते रहे हैं। यही बात गीता के अर्थ के सम्बन्ध में भी है। गीताकार ने स्वयं महान् रूढ़ शब्दों के अर्थ का विस्तार किया है। यह बात गीता को ऊपर-ही-ऊपर देखने से भी मालूम हो जाती है। गीतायुग के पहले कदाचित यज्ञ में पशु-हिंसा मान्य रही हो, पर गीता के यज्ञ में उनकी कहीं गन्ध तक नहीं है। उसमें तो जप-यज्ञ यज्ञों का राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्यतः परोपकारार्थ शरीर का उपयोग। तीसरे और चौथे अध्याय को

मिलाकर और व्याख्यायें निकाली जा सकती हैं, पर पशुहिंसा नहीं निकाली जा सकती। वही बात गीता के संन्यास के अर्थ के सम्बन्ध में भी है। कर्म-मात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता ही नहीं। गीता का संन्यासी अति-कर्मी होने पर भी अति-अ-कर्मी है। इस तरह गीताकार ने महान् शब्दों का व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकार की भाषा के अक्षरों से यह बात भले ही निकलती हो कि संपूर्ण कर्मफल-त्यागी द्वारा भौतिक-युद्ध हो सकता है, परंतु गीता की शिक्षा को पूर्ण-रूप से अमल में लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर, मुझे तो नम्रता-पूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्णरूप से पालन किये बिना सम्पूर्ण कर्मफल त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।

गीता सूत्र-ग्रन्थ नहीं है। गीता एक महान धर्म-काव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिए उतना ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जन-समाज के लिए है, उसमें एक ही बात अनेक प्रकार से कह दी गई है। इसलिए गीता के महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मन्त्र कभी नहीं बदल सकता। वह मन्त्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके उस रीति

से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधिनिषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित होता है वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश में जो विहित होता है वह दूसरे काल में, दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरक्षित है। तथापि गीता बुद्धिगम्य नहीं है। वह हृदयगम्य है इसलिए वह अश्रद्धालु के लिए नहीं है। गीताकार ने ही कहा है—

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना।" १८-६७

"परन्तु यह परम गुह्य-ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा वह मेरी परम-भक्ति करने के कारण निःसन्देह मुझे ही पावेगा।" १८-६८

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहाँ बसते हैं उस शुभलोक को पावेगा।" १८-७१

कौसानी (हिमालय)
सोमवार
आषाढ़ कृष्णा २, १९८६
ता० २४-६-२९

मोहनदास करमचन्द गांधी

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध
३९	७—उपभोग	उपयोग
६१	४—कार्यंत	कार्यंते
६१	७—ज़बर्दस्ती पड़े	ज़बर्दस्ती
७६	१३—वली ईश्वर	वेली ईश्वर
७७	१०—प्रकार कामना	प्रकार की कामना
७८	१—ईमान	भान
८१	८—विवस्मान	विवस्वान्
८९	६—ब्रह्मरूपी	ब्रह्मरूपी
,,	८—पाता	पाता है
,,	१५—शब्दादीन्विपयानन्य	शब्दादीन्विपयानन्ये
९०	१६—आपन प्राणवायु में	अपान को प्राणवायु में
१०८	१९—विपर्यों से निवृत्ति	विषयों से निवृत्त
११७	१२—कमी	कभी
१२३	५—वह	यह
१३१	१४—अनुभव क्षानी	अनुभव ज्ञानी
१३५	६—यह मनाते हैं	यह मानते हैं
१५७	७—उसका भावार्थ	इनका भावार्थ
१६०	२३—हवन में जानेवाला	हवन में डाला जानेवाल
१८६	१३—यासदामहम्	यादसामहम्
१९२	२०—तैरते	गिरते
२०८	९—गादद कण्ठ	गद्गद कण्ठ
२३३	१२—मिथ्योनिष्टापपतिपु	मिथ्यानिष्टोपपत्तिपु
२४१	२१—ब्रह्मधिान्तर्गत	ब्रह्मविद्यान्तर्गत

पृष्ठ	पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध
२४२	११—कनिष्ट	कनिष्ठ
२६१	१—न तन्नासयत	न तन्नासयते
२६३	४—नम्रतातूर्वक	नम्रतापूर्वक
२६८	२३—त्यगा	त्याग
२८१	२—देहिना	देहिनां
२८४	१७—भावसंशुद्धिरि-त्यतत्तपो	भावसंशुद्धिरि-त्येतत्तपो
२८५	१—तपस्तत्त्रिविध	तपस्तत्त्रिविधं
२९४	८—चिन्ता	चित्त
,,	२१—ऐसा	ऐसे
२९५	१२—केशिनिसूदन	केशिनिषूदन
,,	१३—सन्यास	संन्यास
२९७	७—मोहत्तस्य	मोहात्तस्य
,,	१६—कार्यमिन्येव	कार्यमित्येव
२९८	१६—पञ्चैतानि	पञ्चैतानि
३०१	२—यथावच्छणु	यथावच्छृणु
,,	६—भावमच्ययमीक्षते	भावमव्ययमीक्षते
३०७	४—शौर्य	शौर्य
,,	१५—सिद्धि	सिद्धिं
३११	१९—करिष्यवशोऽपि	करिष्यस्यवशोऽपि
३१२	२०—तता	ततो
३१६	१४—सस्मृत्य सस्मृत्य	संस्मृत्य संस्मृत्य
,,	१७—वारम्वार	बारम्बार

अनासक्तियोग
और
गीताबोध

[१]

अर्जुनविषादयोग

[मंगल-प्रभात

[गीता महाभारत का एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है। पर हमारे विचार में महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं, बल्कि धर्मग्रन्थ हैं। अथवा यदि इन्हें इतिहास कहें, तो यह आत्मा का इतिहास है। और, यह हज़ारों वर्ष पूर्व क्या हुआ था, उसका वर्णन नहीं, बल्कि आज प्रत्येक मनुष्य-देह में क्या चल रहा है, उसका चित्रण है। महाभारत और रामायण दोनों में देव और असुर की, राम और रावण की प्रतिदिन होनेवाली लड़ाई का वर्णन है। इस वर्णन में गीता कृष्ण और अर्जुन के बीच का संवाद है। इस संवाद का वर्णन सञ्जय अन्धे धृतराष्ट्र से करते हैं। गीता अर्थात् गाई हुई। इसमें उपनिषद् अध्याहार है। अतएव सम्पूर्ण अर्थ गाया हुआ उपनिषद् हुआ। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान या बोध; इसलिए गीता का अर्थ श्रीकृष्ण का अर्जुन को दिया हुआ बोध हुआ। हमें यह समझ कर गीता पढ़नी चाहिए कि हमारी देह में अन्तर्यामी श्रीकृष्ण-भगवान्-आज विराजते हैं। और, जब अर्जुन के समान जिज्ञासु बन कर धर्म-संकट में अन्तर्यामी भगवान् को पूछते हैं, उनकी शरण जाते हैं, तब वह हमें शरण

देने को तैयार ही रहते हैं। हम सोये हुए हैं। अन्तर्यामी तो हमेशा जागता है। वह इस बात की बाट जोह रहा है, कि हममें जिज्ञासा पैदा हो। पर हमें तो सवाल पूछने नहीं आते। सवाल पूछने को मन भी नहीं होता। इसीलिए गीता-जैसी पुस्तक का नित्यप्रति ध्यान धरते हैं, उसका मनन करते-करते अपने में धर्म-जिज्ञासा पैदा करना चाहते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते हैं। और जब-जब सङ्कट में पड़ते हैं तब-तब सङ्कट टालने के लिए हम गीता माता के पास दौड़ जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं। हमें गीता को इस दृष्टि से पढ़ना है। हमारे लिए वह सद्गुरुरूप है, मातारूप है, और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोद में सिर रखने से हम सही-सलामत रहेंगे। गीता के द्वारा हम अपनी तमाम धार्मिक उलझनें सुलझावेंगे। इस विधि से जो रोज़ गीता का मनन करेगा, उसे उसमें से नित-नया आनन्द मिलेगा—नये अर्थ प्राप्त होते रहेंगे। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके। हमारी ओछी (कम) श्रद्धा के कारण हमें गीता पढ़ना और समझना रुचिकर न हो, यह भिन्न बात है। पर हमारी श्रद्धा रोज़ बढ़ती जाय, हम सावधान बने रहें, इसीलिए तो हम गीता का पारायण करते हैं। इस प्रकार गीता का मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमें से प्राप्त हुआ है, और अब तक मिलता आ रहा है, उसका सारांश आश्रमवासियों के लिए नीचे देता हूँ।]

जब पांडव-कौरव अपनी सेना लेकर लड़ाई के मैदान में

आ खड़े हुए, तब कौरवों का राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य से दोनों दलों के मुख्य योद्धाओं का वर्णन करता है। लड़ाई की तैयारी पूरी होते ही दोनों के शङ्ख बजते हैं और श्रीकृष्ण भगवान्, जो अर्जुन का रथ हाँकने वाले हैं, अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच लाते हैं। यह देखकर अर्जुन घबराता है, और श्रीकृष्ण से कहता है—"मैं इनसे कैसे लड़ूँ? दूसरों के साथ लड़ना होता, तो मैं अभी लड़ लेता, पर ये तो स्वजन हैं, मेरे ही हैं। कौरव कौन, और पांडव कौन? सब चचा-जाद भाई! हम एक साथ बड़े हुए। द्रोण अकेले कौरवों के आचार्य थोड़े ही हैं? हमें भी उन्होंने सारी विद्या सिखाई है। भीष्म तो हम सब के गुरुजनों के—पुरखाओं के पुरखा—पितामह हैं। उनसे लड़ाई कैसी? यह सत्य है कि कौरव अत्याचारी हैं, उन्होंने बहुतेरे दुष्ट कर्म किये हैं। अन्याय किये हैं। पाण्डवों की ज़मीन छीन ली है। और, द्रौपदी के समान महासती का अपमान किया है। यह सब उनका दोष अवश्य है, पर उन्हें मार कर मैं कहाँ जाऊँ? वे तो मूढ़ हैं, मैं उनके समान क्यों बनूँ? मुझे तो कुछ ज्ञान है, सारासार का विवेक है। इसलिए मुझे जानना चाहिए कि सगों—रिश्तेदारों—के साथ लड़ने में पाप है। भले वे पाण्डवों का हिस्सा हड़प कर बैठे हों, भले वे हमें मार डालें। पर हम उन पर हाथ कैसे उठावें? हे कृष्ण! मैं तो इन सब सम्बन्धियों से नहीं लड़ूँगा।" इतना कह बेहोश होकर अर्जुन अपने रथ में गिर पड़ा।

इस प्रकार यह अध्याय समाप्त होता है। इस अध्याय

-का नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। विषाद अर्थात् दुःख। जैसा दुःख अर्जुन को हुआ, वैसा हम सबको होना चाहिए। बिना धर्म-वेदना और धर्म-जिज्ञासा के ज्ञान मिलता नहीं। जिसके मन में अच्छा क्या, और बुरा क्या, यह जानने की इच्छा तक नहीं होती, उसके आगे धर्म-वार्ता क्या? कुरुक्षेत्र की लड़ाई निमित्तमात्र है। अथवा सच्चा कुरुक्षेत्र तो हमारा शरीर है। यह कुरुक्षेत्र भी है और धर्म-क्षेत्र भी। यदि हम उसे ईश्वर का निवास-स्थान मानें और बनायें, तो यह धर्मक्षेत्र है। उस क्षेत्र में प्रतिदिन हमारे सम्मुख कोई-न-कोई लड़ाई होती है। और, ऐसी अधिकांश लड़ाई का मूल "यह मेरा" और "वह तेरा" की भावना है। स्वजन परजन के भेद से ही ऐसी लड़ाई होती है। इसी कारण भगवान् अर्जुन को कहने वाले हैं कि अधर्ममात्र का मूल 'राग-द्वेष' है। 'मेरा' माना कि 'राग' उत्पन्न हुआ, 'दूसरे का' माना कि उसमें 'द्वेष' उत्पन्न हुआ। वैर-भाव जन्मा। इसलिए 'मेरे तेरे' का भेद भूलने योग्य है: 'राग-द्वेष' छोड़ने योग्य हैं। गीता और सारे धर्म-ग्रन्थ इसी बात को पुकार-पुकार कर कहते हैं। यह कहना एक बात है, इसके अनुसार करना दूसरी बात। गीता हमें इसके अनुसार करना भी सिखाती है। यह कैसे, सो समझने का हम प्रयत्न करेंगे।]

[यरवडा मन्दिर ११—११, ३०

[१]

जिज्ञासा विना ज्ञान नहीं होता। दुःख विना सुख नहीं होता। धर्मसंकट—हृदय-मन्थन—सब जिज्ञासुओं को एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय ! मुझे वतलाओ कि धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्ष का द्वार हो सकता है। पाप से इसकी उत्पत्ति है और यह पाप का ही भाजन होकर रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियाँ और पाण्डुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियाँ। प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों में युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय ने कहा—

उस समय पाण्डवों की सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर बोले, २

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न-द्वारा सजाई हुई पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखिए। ३

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

यहाँ भीम और अर्जुन जैसे लड़ने में शूरवीर धनुर्धर, युयुधान (सात्यकी), विराट् और महारथी द्रुपदराज, ४

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, ५

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र, ये सभी महारथी हैं। ६

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे द्विजश्रेष्ठ! अब हमारी ओर के जो मुख्य नायक हैं, उन्हें आप जान लीजिए। अपनी सेना के नायकों के नाम मैं आपके ध्यान में लाने के लिए बतलाता हूँ। ७

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्ध में जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा। ८

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

तथा दूसरे बहुतेरे नानाप्रकार के शस्त्रों से युद्ध करनेवाले शूरवीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेवाले हैं। वे सब युद्ध में कुशल हैं। ९

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्म-द्वारा रक्षित हमारी सेना का बल अपूर्ण है, पर भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है। १०

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थान से, सभी मार्गों से, भीष्मपितामह की अच्छी तरह रक्षा करें। (इस प्रकार दुर्योधन ने कहा) ११

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तब उसे आनन्दित करते हुए कुरुवृद्ध प्रतापी पितामह ने उच्चस्वर से सिंहनाद करके शंख बजाया। १२

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणभेरियाँ एक साथ ही बज उठीं। यह नाद भयंकर था। १३

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इतने में सफेद घोड़ों के बड़े रथ पर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये। १४

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। भयंकर कर्मवाले भीमने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। १५

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया और नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया। १६

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

बड़े धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट्राज, अजेय सात्यकी, १७

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुःशङ्खान्दध्मुःपृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपदराज, द्रौपदी के पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन् ! अपने-अपने शंख बजाये । १८

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

पृथ्वी एवं आकाश को गुँजा देनेवाले उस भयंकर नाद ने कौरवों के हृदय विदीर्ण कर डाले । १९

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे राजन् ! जिस अर्जुन की ध्वजा में हनुमानजी हैं, उसने कौरवों को सजे देखकर, हथियार चलाने की तैयारी के समय अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेश से ये वचन कहे; अर्जुन बोले 'हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करो; २०-२१

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जिससे युद्ध की कामना से खड़े हुए लोगों को मैं देखूँ और जानूँ कि इस रणसंग्राम में मुझे किनके साथ लड़ना है; २२

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

'युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का हित करने की इच्छा-वाले जो योद्धा इकट्ठे हुए हैं, उन्हें मैं देखूँ तो सही।' २३

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५

संजय ने कहा—

हे राजन्! जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह कहा, तब उन्होंने दोनों सेनाओं के बीच में समस्त राजाओं के और भीष्मद्रोण के सम्मुख उत्तम रथ खड़ा करके

कहा—'हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख ।' २४-२५

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा २६
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् २७
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

वहाँ, दोनों सेनाओं में, विद्यमान बड़े-बूढ़े, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियों को अर्जुन ने देखा। इन सब बान्धवों को यों खड़ा देख कर खेद उत्पन्न होने के कारण दीन बने हुए कुन्तीपुत्र इस प्रकार बोले। २६-२७-२८

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोले

हे कृष्ण ! युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए इन स्वजन-स्नेहियों को देखकर मेरे गात्र शिथिल हो

रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीर काँप रहा है, और रोयें खड़े हो रहे हैं। २८-२९

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथ से गाण्डीव छूटा पड़ता है, वदन में आग-सी लग रही है। मुझ से खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा दिमाग़ चक्कर-सा खा रहा है। ३०

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

इसके सिवा हे केशव ! मैं तो विपरीत लक्षण देख रहा हूँ। युद्ध में स्वजनों को मारने में मैं कोई श्रेय नहीं देखता। ३१

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ३२

उन्हें मारकर मैं विजय नहीं चाहता। न मुझे राज्य चाहिए, न सुख; हे गोविन्द ! मुझे राज्य, भोग या जीते रहने का क्या काम है ? ३२

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ३३

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा ३४

जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की हमने चाह की, वेही आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्यान्य स्वजन जीवन और धन की आशा छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हैं। ३३-३४

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

यह लोग मुझे मार डालें अथवा मुझे तीनों लोक का राज्य मिले, तो भी हे मधुसूदन ! मैं इन्हें मारना नहीं चाहता। तो फिर जमीन के एक टुकड़े के लिए इन्हें कैसे मारूँ ? ३५

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर मुझे क्या आनन्द होगा ? इन आततायियों को भी मारने में हमें पाप ही लगेगा। ३६

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इससे हे माधव ! यह उचित नहीं है कि अपने ही बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को हम मारें। स्वजन को ही मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ३७

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

लोभ से जिनके चित्त मलिन हो गये हैं, वे कुलनाश से होनेवाले दोष और मित्रद्रोह के पाप को भले ही न समझ सकें, परन्तु हे जनार्दन ! कुलनाश से होनेवाले दोष को समझनेवाले हम लोग इस पाप से बचना क्यों न जानें ? ३८-३९

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माःसनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल के नाश से सनातन कुलधर्मों का नाश होता है और धर्म का नाश होने से अधर्म समूचे कुल को डुबा देता है। ४०

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण ! अधर्म की वृद्धि होने से कुलस्त्रियाँ दूषित होती हैं और उनके दूषित होने से वर्ण का संकर हो जाता है। ४१

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

ऐसे संकर से कुलघातक का और उसके कुल का नरकवास होता है और पिण्डोदक की क्रिया से वञ्चित रहने के कारण उसके पितरों की अधोगति होती है। ४२

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ४३

कुलघातक लोगों के इन वर्णसंकर को उत्पन्न करनेवाले दोषों से सनातन जातिधर्म और कुलधर्मों का नाश होता है। ४३

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन ! जिसके कुलधर्म का नाश हुआ हो, ऐसे मनुष्य का अवश्य नरक में वास होता है, यह हम लोग सुनते आये हैं। ४४

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो, कैसी दुःख की बात है कि हम लोग महा-पाप करने को तुल गये हैं, अर्थात् राज्य-सुख के लोभ से स्वजनों को मारने को तैयार हो गये हैं ! ४५

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको, यदि धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में मार डालें, तो वह मेरे लिए बहुत कल्याणकारक होगा । ४६

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषाद-योगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

संजय ने कहा—

इतना कहकर रण में शोक से व्यग्रचित्त हुए अर्जुन धनुषबाण डालकर, रथ के पिछले भाग में बैठ गये। ४७

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का अर्जुनविपाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

[२]

सांख्ययोग

[मंगल प्रभात

[जब अर्जुन कुछ स्वस्थ हुआ तो भगवान् ने उसे उलाहना दिया और कहा, तुझे ऐसा मोह कहाँ से हो गया है? तेरे जैसे वीर पुरुष को यह शोभा नहीं देता। परन्तु इतने से अर्जुन का मोह दूर होनेवाला न था। उसने लड़ने से इनकार किया और कहा—"इन सगे-सम्बन्धियों को और गुरुजनों को मारकर राजपाट तो क्या, स्वर्ग का सुख भी नहीं चाहिए। मैं तो असमंजस में पड़ा हूँ; इस समय धर्म क्या है, कुछ समझ नहीं पड़ता, आपकी शरण में हूँ, मुझे धर्म समझाइए।"

अर्जुन को बहुत दुखी और जिज्ञासु पाकर भगवान् को दया आई और उसे समझाने लगे—"तू बिना कारण दुखी होता है, और बिना समझे ज्ञान की बातें करता है। देह और देह में रहनेवाली आत्मा के भेद को ही भूल गया-सा जान पड़ता है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्म ही से नाशवान् है। देह में जैसे जवानी और बुढ़ापा आते हैं, वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाश होने पर भी देही का नाश नहीं होता। देह का जन्म होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो अजन्मा है। उसे क्षय और वृद्धि नहीं, वह तो हमेशा थी, आज है और अब से

आगे भी रहेगी। अतः तू किसका शोक करता है? मोह के कारण ही तेरा यह शोक है। इन कौरवादि को तू अपना समझता है, अर्थात् तुझमें ममत्व पैदा हुआ है, पर तू याद रख कि जिस देह के लिए तुझे ममत्व है, उसका तो नाश अवश्यम्भावी है। यदि उसमें रहनेवाले जीव का विचार करेगा तो तुरन्त ही तेरी समझ में आजायगा कि उसका नाश करने का सामर्थ्य किसी में नहीं। उसे न आग जला सकती है, न पानी डुबो सकता है, न हवा उसे सुखा सकती है। हाँ, और तू अपने धर्म का विचार करके देख। तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह फ़ौज इकट्ठी हुई है। अब तेरे कायर बनने से तो जैसा तू चाहता है, उसके विपरीत नतीजा निकलेगा और तेरी हँसी होगी। अबतक तेरी गिनती बहादुरों में हुई है। अब यदि तू बीच में ही लड़ना छोड़ देगा, तो लोग कहेंगे कि तू डरकर भागा। यदि भागना धर्म हो, तो लोकनिन्दा की कुछ परवा नहीं, पर यहाँ तो तेरे भागने से अधर्म होगा और लोकनिन्दा उचित ही कही जायगी। यह तो दोहरा दोष होगा।

यह तो मैंने तुझे बुद्धि की दलीलें बताईं, आत्मा और देह का भेद बताया, और तेरे कुल-धर्म की तुझे याद दिलाई। पर अब मैं तुझे कर्मयोग की बात समझाता हूँ। कर्मयोग का अभ्यास। या आचरण करनेवाले को नुकसान होता ही नहीं। इसमें तर्क की बात नहीं, इसमें तो आचरण की, काम करके अनुभव करने की बात है और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हज़ारों मन तर्क की अपेक्षा एक रत्ती भर भी आचरण बढ़कर

है। इस आचरण में भी यदि भले-बुरे परिणाम का तर्क शामिल हो जाय, तो वह दूषित बन जाता है। परिणाम का विचार करते ही बुद्धि मलिन होती है। पोथी-पंडित लोग कर्मकाण्ड में लगकर अनेक प्रकार के फल पाने की इच्छा से कई क्रियाएँ शुरू कर बैठते हैं। एक से फल-प्राप्ति न होने पर दूसरा काम करने दौड़ते हैं। और किसी ने तीसरी क्रिया बताई तो उसे भी करने का प्रयत्न करते हैं। यों करते-करते उनकी मति अस्थिर हो जाती है। वस्तुतः मनुष्य का धर्म तो फल का विचार किये बिना कर्त्तव्य-कर्म करते रहना है। इस समय यह युद्ध तेरा कर्त्तव्य है। इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत, तेरे हाथ नहीं। तू भार-वाही कुत्ते की भाँति इनका भार क्यों उठाता है? हार-जीत सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, देह के पीछे लगे ही हैं। मनुष्य को चाहिए, कि इन्हें सहन करे। परिणाम चाहे जो हो, उसके बारे में निश्चिन्त रहकर, समता रखकर, मनुष्य को अपने कर्त्तव्य में तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम 'योग' है और इसी में कर्म-कुशलता है। अर्थात् कार्य की सिद्धि उसके करने में है, उसके परिणाम में नहीं। तू स्वस्थ हो। फल का अभिमान छोड़ दे और कर्तव्य का पालन कर।"

यह सुनकर अर्जुन कहता है—"यह तो मेरी शक्ति से परे की बात मालूम होती है। हार-जीत का विचार छोड़ना, परिणाम का विचार ही न करना, यह समता यह स्थिरबुद्धि, कैसे आ सकती है? ऐसी स्थिरबुद्धि वाले कैसे होते हैं? उनकी पहचान क्या है? मुझे समझाइए।"

इसपर भगवान् ने जवाब दिया—"हे अर्जुन! जिस मनुष्य ने अपनी समस्त कामना का त्याग किया है, अपने अन्तर में से ही जो संतोष ग्रहण करता है, वह स्थिरचित्त, स्थिरप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। वह मनुष्य न दुःख से दुःखी होता, न सुख से फूलता है। सुख-दुःखादि पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। इसलिए ऐसा चतुर मनुष्य कछुए की भाँति अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है। पर कछुआ तो जब दुश्मन को देखता है, तभी ढाल के नीचे अपने अंग समेटता है, जब कि मनुष्य की इन्द्रियों पर तो विषय नित्य ही चढ़ाई करने को तैयार रहते हैं, इसलिए उसे तो हमेशा इन्द्रियों को समेट रखना और स्वयं ढालरूप बनकर विषयों से लड़ना है। यह सच्चा युद्ध है।

"कोई विषयों का निवारण करने के लिए देह-दमन करते हैं, उपवास करते हैं। यह ठीक है। जबतक उपवास किये जाते हैं, तबतक इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं दौड़तीं; पर अकेले उपवास से रस सूख नहीं जाते। उपवास छोड़ते ही वे और बढ़ भी सकते हैं। रस को वश में करने के लिए तो ईश्वर का प्रसाद आवश्यक है। इन्द्रियाँ तो इतनी बलवान् हैं कि वे मनुष्य को, यदि वह सावधान न रहे, तो बलात् घसीटकर ले जाती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा इन्द्रियों को अपने क़ाबू में रखे। लेकिन यह तभी हो सकता है जब वह ईश्वर का ध्यान धरे, अन्तर्मुख बने, हृदय में रहनेवाले अन्तर्यामी को पहचाने, उसकी भक्ति करे। इस तरह जो मनुष्य मुझ में परायण होकर और रह-

कर अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है।

"जो ऐसा नहीं करता उसकी क्या दशा होती है, वह भी कहता हूँ। जिसकी इन्द्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक बरतती हैं, वह रोज़ विषयों का ध्यान धरता है, इसके कारण उसे उनकी लगन लगती है, उनके सिवा दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। इस लगन से उसमें काम उत्पन्न होता है और उसकी पूर्ति न होने पर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर अर्धपागल तो बनता ही है, उसे अपना भान भी नहीं रहता। स्मरण न रहने से वह अण्ड-बण्ड बकता और बरतता है। ऐसे मनुष्य का आख़िर नाश न हो तो और क्या हो? जिसकी इन्द्रियाँ इस तरह भटकती फिरती हैं, उसकी स्थिति बिना कर्णधार की नौका के समान हो जाती है। कैसी भी वायु नाव को जहाँ-तहाँ घसीट ले जाती है, और आख़िर किसी चट्टान से टकराकर नाव चकनाचूर हो जाती है। यही दशा उनकी होती है, जिनकी इन्द्रियाँ भटका करती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह कामनाओं का त्याग करे। इन्द्रियों को वश में रक्खे। इन्द्रियों को क़ाबू में रखने का अर्थ यह है कि वे बुरे कार्य न करें। आँख निर्विकार रहेगी, पवित्र वस्तु ही देखेगी; कान भगवद्भजन सुनेंगे या दुःखियों की पुकार सुनेंगे; हाथ-पैर सेवा-कार्य ही में लगे रहेंगे और सब इन्द्रियाँ मनुष्य के कर्त्तव्य-पालन में ही परायण रहेंगी और उसीसे ईश्वर-प्रसाद प्राप्त होगा। जब यह प्रसाद मिलता है, तभी सब दुःख दूर हो जाते हैं। इसे निश्चय समझ।

"सूर्य के तेज से जैसे बर्फ़ पिघल जाती है, वैसे ही ईश्वर-प्रसाद के तेज से दुःख-मात्र दूर हो जाता है। और ऐसा मनुष्य स्थिरबुद्धि कहलाता है। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसमें अच्छी भावना कहाँ? जिसमें अच्छी भावना नहीं, उसे शान्ति कहाँ? जहाँ, शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ? स्थिरबुद्धि मनुष्य को जहाँ दिन की भाँति साफ़ दिखाई देता है, वहाँ अस्थिरमन वाले दुनिया के झमेले में पड़े, देख ही नहीं सकते। और जो इन दुनियादारों को स्पष्ट-सा प्रतीत होता है, समाधिस्थ योगी उसे स्पष्टतया मलिन पाता है। फलतः उस ओर नज़र उठाकर देखता तक नहीं। ऐसे योगी की तो वह स्थिति होती है, कि जैसे नदी-नालों का पानी समुद्र में जाकर शान्त हो जाता है, वैसे ही विषयमात्र इस समुद्ररूप योगी में शान्त हो जाते हैं, और ऐसा मनुष्य समुद्र की तरह शान्त रहता है। इसलिए जो आदमी सब कामनाओं को छोड़कर, निरहंकार बनकर, ममता का त्याग करके, तटस्थ भाव से बरतता है, वह शान्ति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्ति की स्थिति है और यह स्थिति जिसकी अन्त समय तक टिकती है वह मोक्ष पाता है।"]

[यरवडा मन्दिर १७-११-'३०

मोहवश मनुष्य अधर्म को धर्म मानता है। मोह से अर्जुन ने अपने और पराये का भेद किया। इस भेद को मिथ्या बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्मा की भिन्नता बतलाते हैं, देह की अनित्यता और पृथक्ता तथा आत्मा की नित्यता और उसकी एकता बतलाते हैं। मनुष्य केवल पुरुषार्थ करने का अधिकारी है, परिणाम का नहीं। इसलिए उसे अपने कर्त्तव्य का निश्चय करके निश्चिन्तभाव से उसमें लगे रहना चाहिए। ऐसी परायणता से वह मोक्ष पा सकता है।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने कहा—

यों करुणा से दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले दुःखी अर्जुन से मधुसूदन ने यह वचन कहे। १

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, स्वर्ग से विमुख रखनेवाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे इस विषम घड़ी में कहाँ से आगया ? २

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ ! तू नामर्द मत बन, यह तुझे शोभा नहीं देता। हृदय की पामर निर्बलता का त्याग करके हे परन्तप ! तू उठ। ३

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! भीष्म को और द्रोण को रणभूमि में बाणों से मैं कैसे मारूँ ? हे अरिसूदन ! ये तो पूजनीय हैं। ४

गुरूनहत्वा हि महानुभावा
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महानुभाव गुरुजनों को मारने के बदले लोक में भिक्षान्न खाना भी अच्छा है। क्योंकि गुरुजनों को मारने से तो मुझे रक्त से सने हुए अर्थ और काम-रूप भोग ही भोगने ठहरे। ५

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६

मैं नहीं जानता कि दोनों में क्या अच्छा है, हम जीतें यह, या यह कि वे हमें जीतें। जिन्हें मारकर जीना नहीं चाहता, वे धृतराष्ट्र के पुत्र ये सामने खड़े हैं। ६

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

कायरता से मेरी (जातीय) वृत्ति मारी गई है। मैं कर्त्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। इसलिए जिसमें मेरा हित हो, वह मुझसे निश्चय-पूर्वक कहने के लिए

आपसे प्रार्थना करता हूँ । मैं आपका शिष्य हूँ । आपकी शरण में आया हूँ । मुझे मार्ग बतलाइए । ७

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

इस लोक मे धन-धान्य-सम्पन्न निष्कण्टक राज्य मिले और इन्द्रासन भी मिले, तो उसमें इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे शोक को दूर कर सके, ऐसा मैं कुछ नहीं देखता । ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह ॥९॥

संजय ने कहा—

हे राजन् ! गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविन्द से ऐसा कहकर बोले, कि 'मैं नहीं लड़ूँगा' । यह कहकर वे चुप हो गये । ९

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत ! इन दोनों सेनाओं के बीच में उदास हो बैठे हुए अर्जुन से मुस्कुराते हुए हृषीकेश ने ये वचन कहे— १०

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्री भगवान् बोले—

तू शोक न करने योग्य का शोक करता है, और पंडिताई के बोल बोलता है, परन्तु पंडित मरे हुओं और जीतों का शोक नहीं करते । ११

न त्वेवाहं जातु नासं त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

क्योंकि वास्तव में देखने पर मैं, तू या ये राजा किसी काल में न थे, अथवा भविष्य में न होंगे, ऐसी कोई बात नहीं है । १२

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देह-धारी को जैसे इस शरीर में कौमार, यौवन और जरा की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह

भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुष को मोह नहीं होता। १३

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत १४

हे कौन्तेय! इन्द्रियों के स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सह। १४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख-दुःख में सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य बनता है। १५

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् का अस्तित्व नहीं है, और सत् का नाश नहीं है। इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जाना है। १६

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्यय का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। १७

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नित्य रहने वाले अपरिमित और अविनाशी देही की ये देहें नाशवान कही गई हैं। इसलिए हे भारत! तू युद्ध कर। १८

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते १९॥

जो इसे मारनेवाला मानता है, और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों कुछ नहीं जानते। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है। १९

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था और भविष्य में नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है।

इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर का नाश होने से इस का नाश नहीं होता। २०

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

हे पार्थ! जो पुरुष आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है, वह किसे कैसे मरवाता है, या किसे मारता है? २१

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।२२।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये धारण करता है, वैसे देहधारी जीर्ण देह को त्यागकर दूसरी नई देह पाता है। २२

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।२३।

इस (आत्मा) को शस्त्र काटते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं। २३

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है, और सनातन है। २४

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

साथ ही, यह इन्द्रिय और मन के लिए अगम्य है, विकार-रहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है। २५

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा, जो तू इसे नित्य जन्मने और मरनेवाला माने, तोभी, हे महाबाहो ! तुझे शोक करना उचित नहीं है। २६

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जन्मे हुए के लिए मृत्यु और मरे हुए के लिए

जन्म अनिवार्य है। इसलिए जो अनिवार्य है उसका शोक करना उचित नहीं है। २७

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत! भूतमात्र की, जन्म के पहले की और मृत्यु के पीछे की, अवस्था देखी नहीं जा सकती; वह अव्यक्त है, बीच की ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिन्ता का क्या कारण है? २८

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर-जङ्गम सृष्टि।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इसे आश्चर्य-समान देखता है, दूसरा इसे आश्चर्य-समान वर्णन करता है; और दूसरा इसे आश्चर्य-समान वर्णन किया हुआ सुनता है, परन्तु सुनने पर भी कोई इसे जानता नहीं है। २९

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ३०

हे भारत ! सब की देह में विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है; इसलिए भूतमात्र के विषय में तुझे शोक करना उचित नहीं है। ३०

टिप्पणी—यहाँ तक श्रीकृष्ण ने बुद्धिप्रयोग से आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व समझा कर बतलाया कि यदि किसी स्थिति में देह का नाश करना उचित समझा जाय, तो स्वजन-परिजन का भेद करके, कौरव सगे हैं, इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय, यह विचार मोह-जन्य है। अब अर्जुन को बतलाते हैं कि क्षत्रिय-धर्म क्या है?

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।३१।

स्वधर्म को समझ कर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं, क्योंकि धर्मयुद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ३१

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ ! यों, अपने आप प्राप्त हुआ, और मानों स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है। ३२

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ३३

यदि तू यह धर्मप्राप्त युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म और, कीर्ति को खोकर पाप बटोरेगा। ३३

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्तितेऽव्ययाम्
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सब लोग तेरी निरन्तर निन्दा किया करेंगे। और सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बुरी है। ३४

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ३५

जिन महारथियों से तूने मान पाया है, वे ही तुझे भय के कारण रण से भागा मानेंगे, और तुझे तुच्छ समझेंगे। ३५

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ३६

और तेरे शत्रु तेरे बल की निन्दा करते हुए बहुत सी न कहने योग्य बातें कहेंगे। इससे अधिक दुःखदायी और क्या हो सकता है ? ३६

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

जो तू मारा जायगा, तो तुझे स्वर्ग मिलेगा। जो तू जीतेगा, तो पृथ्वी भोगेगा। इसलिए हे कौन्तेय! लड़ने का निश्चय करके तू खड़ा हो। ३७

टिप्पणी—इस प्रकार भगवान ने आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व बतलाया। फिर यह भी बतलाया कि अनायास प्राप्त युद्ध करने में क्षत्रिय को धर्म की बाधा नहीं होती। इस प्रकार ३१ वें श्लोक से भगवान् ने परमार्थ के साथ उपभोग का मेल मिलाया है। इतना कहकर फिर भगवान् गीता के प्रधान उपदेश का दिग्दर्शन एक श्लोक में कराते हैं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा। ३८

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ३९

मैंने तुझे सांख्यसिद्धान्त (तर्कवाद) के अनुसार तेरा यह कर्तव्य बतलाया।

अब योगवाद के अनुसार समझाता हूँ, सो सुन। इसका आश्रय लेने से तू कर्मबन्धन को तोड़ सकेगा। ३९

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इसमें आरम्भ का नाश नहीं होता । उलटा नतीजा नहीं निकलता । इस धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महाभय से बचा लेता है । ४०

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन ! योगवाद की निश्चयात्मक बुद्धि एक-रूप होती है, परन्तु अनिश्चयवालों की बुद्धियाँ अनेक शाखाओं वाली और अनन्त होती हैं । ४१

टिप्पणी—जब बुद्धि एक से मिटकर अनेक (बुद्धियाँ) होती हैं, तब वह बुद्धि न रहकर वासना का रूप धारण करती है । इसलिए बुद्धियों से तात्पर्य है, वासनायें ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ४४

अज्ञानी, वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है, यह कहनेवाले, कामनावाले, स्वर्ग को श्रेष्ठ माननेवाले, जन्म-मरण-रूपी कर्म के फल देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्मों के वर्णन से भरी हुई बातें बढ़ा-बढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहनेवाले इन लोगों की वह बुद्धि मारी जाती है। इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है, और न वह समाधि में ही स्थिर हो सकती है। ४२-४३-४४

टिप्पणी—योगवाद के विरुद्ध कर्मकाण्ड अथवा वेदवाद का वर्णन उपरोक्त तीन श्लोकों में आया है। कर्मकाण्ड या वेदवाद, अर्थात् फल उपजाने के लिए मन्थन करनेवाली अगणित क्रियायें। ये क्रियायें वेद के रहस्य से, वेदांत से, अलग और अल्प फलवाली होने के कारण निरर्थक हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ४५

हे अर्जुन ! जो तीन गुण वेद के विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह। सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तु में स्थित रह। किसी वस्तु को पाने और संभालने के झंझट से मुक्त रह। आत्मपरायण बन। ४५

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जैसे, जो काम कुएँ से निकलते हैं, वे सब, सब प्रकार से सरोवर से निकलते हैं, वैसे ही, जो सब वेदों में है, वह, ज्ञानवान ब्रह्मपरायण को आत्मानुभव में से मिल जाता है । ४६

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्म में ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलों में कदापि नहीं । कर्म का फल तेरा हेतु न हो । कर्म न करने का भी तुझे आग्रह न हो । ४७

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ४८

हे धनंजय ! आसक्ति त्यागकर, योगस्थ रहकर अर्थात् सफलता-निष्फलता में समान भाव रखकर तू कर्म कर । समता का ही नाम योग है । ४८

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनञ्जय ! समत्व-बुद्धि की तुलना में केवल कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्वबुद्धि का आश्रय ले । फल को हेतु बनानेवाले मनुष्य दया के पात्र हैं। ४९

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ५०

बुद्धियुक्त, अर्थात् समतावाले पुरुष को यहाँ पाप पुण्य का स्पर्श नहीं होता। इसलिए तू समत्व के लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्य-कुशलता है। ५०

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ५१

क्योंकि समत्वबुद्धिवाले लोग कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग करके जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, और निष्कलंक गति—मोक्षपद—पाते हैं। ५१

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ से पार हो जायगी, तब तुझे सुने हुए के विषय में, और सुनने को जो बाक़ी होगा, उसके विषय में उदासीनता प्राप्त होगी। ५२

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनने से व्यग्र हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में स्थिर होगी, तभी तू समत्व को प्राप्त होगा। ५३

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले—

हे केशव ! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ के क्या लक्षण होते हैं ? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है ? ५४

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मन में उठनेवाली सभी कामनाओं का त्याग करता है, और आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है । ५५

टिप्पणी—आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहना, अर्थात् आत्मा का आनन्द अन्दर से खोजना। सुख-दुःख देनेवाली बाहरी चीजों पर आनन्द का आधार न रखना। आनन्द सुख से भिन्न वस्तु है, यह ध्यान में रखना चाहिए। मुझे धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूँ, यह मोह है। मैं भिखारी होऊँ, खाने का दुःख हो, फिर भी मेरे चोरी या किन्हीं दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है, वह मुझे आनन्द देती है, और वह आत्मसन्तोष है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखसे जो दुखी न हो, सुख की इच्छा न रखे, और जो राग, भय और क्रोध से रहित हो, वह स्थिर-बुद्धि मुनि कहलाता है। ५६

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

सर्वत्र राग-रहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभ की प्राप्ति में न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है,

वैसे ही, जब यह पुरुष इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है। ५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

देह-धारी निराहारी रहता है, तब उसके विषय मन्द पड़ जाते हैं, परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने पर ही शान्त होता है। ५९

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदि का निषेध नहीं करता, वरन् उसकी सीमा सूचित करता है। विषयों को शान्त करने के लिए उपवासादि आवश्यक हैं, परन्तु उनकी जड़ अर्थात् उनमें रहनेवाला रस तो ईश्वर की झाँकी होने पर ही शान्त होता है। जिसे ईश्वर-साक्षात्कार का रस लग जाता है, वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय ! चतुर पुरुष के उद्योग करते रहने पर भी इन्द्रियाँ ऐसी मथनशील हैं, कि उसके मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं। ६०

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इन सब इन्द्रियों को वश में रखकर योगी को मुझ में तन्मय हो रहना चाहिए। क्योंकि अपनी इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है। ६१

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्ति के बिना—ईश्वर की सहायता के बिना—मनुष्य का प्रयत्न मिथ्या है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ६२॥

विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना होती है, और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। ६२

टिप्पणी—कामनावाले के लिए क्रोध अनिवार्य है, क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नहीं।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ६३

क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रान्त हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से ज्ञान का नाश हो जाता है, और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया, वह मृतक-तुल्य है। ६३

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परन्तु जिसका मन अपने अधिकार में है, और जिसकी इन्द्रियाँ राग-द्वेष रहित होकर उसके वश में रहती हैं, वह मनुष्य इन्द्रियों का व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है। ६४

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं। जिसे प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, उसकी बुद्धि तुरन्त ही स्थिर हो जाती है। ६५

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्यकुतः सुखम्॥६६॥

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं। उसे भक्ति नहीं। और जिसे भक्ति नहीं,उसे शान्ति नहीं है;और जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ से हो? ६६

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

विषयों में भटकनेवाली इन्द्रियों के पीछे जिसका मन दौड़ता है, उसका मन, जैसे वायु नौका को जल में खींच ले जाता है, वैसे ही, उसकी बुद्धि को जहाँ, चाहे, खींच ले जाता है। ६७

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

इसलिए, हे महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ चारों ओर से विषयों से निकल कर अपने वश में आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ६८

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ६९॥

जब सब प्राणी सोते रहते हैं, तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं, तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है। ६९

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रात के बारह एक बजे तक नाच, रंग खान-पान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सवेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोते और मध्य-रात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। साथ ही भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है, और ईश्वर को भूलता है; उधर संयमी सांसारिक प्रपंचों से बे-खबर रहता है, और ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस श्लोक में भगवान् ने बतलाया है कि इस प्रकार दोनों का पंथ न्यारा है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

नदियों के प्रवेश से भरता रहने पर भी, जैसे,

समुद्र अचल रहता है, वैसे ही, जिस मनुष्य में संसार के भोग शान्त हो जाते हैं, वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य । ७०

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सब कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार-रहित होकर विचरता है, वह शान्ति पाता है । ७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे पार्थ ! ईश्वर को पहचाननेवाले की स्थिति ऐसी होती है । इसे पाने पर फिर वह मोह के वश नहीं होता, और यदि मृत्युकाल में भी ऐसी ही स्थिति टिके, तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है । ७२

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद्, अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

[३]

कर्मयोग

[सोमप्रभात

[स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन को ऐसा लगा कि मनुष्य को शान्त होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणों में उसने कर्म का तो नाम तक न सुना। इसलिए भगवान् से पूछा—आपके कथन से तो ऐसा मालूम होता है, कि कर्म की अपेक्षा ज्ञान अधिक है। इस कारण मेरी बुद्धि परेशान होती है। यदि ज्ञान अच्छा है, तो मुझे घोर कर्म में क्यों फँसाते हैं? मुझे साफ-साफ कहो, कि मेरी भलाई किसमें है।

तब भगवान् ने जवाब दिया—हे पापरहित अर्जुन, पहले से ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं। एक में ज्ञान को प्रधान पद है, और दूसरे में कर्म को। लेकिन तू ही देख सकेगा कि कर्म बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता; बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं। सबकुछ छोड़कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्ध पुरुष नहीं कहला सकता। तू देखता है कि हर एक आदमी कुछ-न-कुछ कर्म तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ-न-कुछ करावेगा। जगत् का यह कानून (नियम) होते हुए भी जो आदमी हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहता है, और मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ—संकल्प-विकल्प—करता रहता है, उसकी गिनती मूर्खों में होती है

और वह मिथ्याचारी भी कहा जाता है। इससे क्या यह अच्छा नहीं कि इन्द्रियों को वश में रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, बिना धाँधली के, बिना आसक्ति के, अर्थात् अनासक्त रहकर, हाथ-पैर से कुछ कर्म किया करे—कर्मयोग का आचरण करे। नियत कर्म, तेरे हिस्से आया हुआ सेवाकार्य, तू इंद्रियों को वश में रखकर किया कर। आलसी की भाँति बैठे रहने से यह अच्छा ही है। आलसी बनकर बैठ रहनेवाले का शरीर आख़िर क्षीण हो जाता है। पर, कर्म करते हुए इतना याद रखना, कि यज्ञकार्य को छोड़कर अन्य सब कर्म लोगों को बन्धन में रखते हैं। यज्ञ, अर्थात् अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरे के लिए, परोपकारार्थ किया गया श्रम, अर्थात् संक्षेप में सेवा। और जहाँ सेवा के लिये ही सेवा की जाती है, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होते। यह यज्ञ, यह सेवा, तू किया कर। ब्रह्मा ने यह जगत् पैदा किया और उसके साथ ही यज्ञ को भी जन्म दिया—मानो हमारे कान में उसने यह मन्त्र फूँका—"पृथ्वी पर जाओ, एक-दूसरे की सेवा करो और वृद्धि पाओ—जीव मात्र को देवतारूप समझो। इन देवों की सेवा करके तुम इन्हें प्रसन्न रखो, ये तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनवांछित फल देंगे।" अर्थात् यह समझना चाहिये कि लोकसेवा किये बग़ैर, उनका भाग उन्हें प्रथम दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है। और जो लोक का, जीवमात्र का, भाग उन्हें पहुँचाकर बाद में खाते हैं, या कुछ भोगते हैं, उन्हें वह भोगने का अधिकार है। अर्थात् वे पापमुक्त होते हैं। इसके विपरीत

[कर्मयोग

जो अपने लिए ही कमाते हैं, मज़दूरी करते हैं, वे पापी हैं, और पाप का अन्न खाते हैं। सृष्टि का नियम ही ऐसा है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है। अन्न वर्षा से पैदा होता है, और वर्षा यज्ञ से—अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से पैदा होती है। जहाँ जीव नहीं हैं, वहाँ वर्षा भी नहीं पाई जाती; जहाँ जीव हैं, वहाँ वर्षा है ही। जीवमात्र श्रमजीवी है, मेहनत करके जीनेवाला है। कोई लेटे-लेटे खा नहीं सकता। और यदि यह मूढ़ जीवों के विषय में सच है तो मनुष्य के लिए कितनी ज्यादा हद तक सच होना चाहिये? इसलिए भगवान् ने कहा है, कि कर्म ब्रह्मा ने उत्पन्न किया, ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म से हुई—इससे यह समझना कि यज्ञमात्र में—सेवामात्र में, अक्षर ब्रह्म, परमेश्वर, बिराजता है—ऐसी इस घटमाल का, इस चक्री का, जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

[मङ्गलप्रभात

जो मनुष्य आन्तरिक शान्ति भोगता है, और सन्तुष्ट रहता है, कह सकते हैं कि उसके लिए कुछ कार्य है नहीं—उसे कर्म करने से कुछ लाभ नहीं, न करने से भी नहीं; उसे किसी के बारे में कोई स्वार्थ नहीं होता, तो भी यज्ञकर्म को वह छोड़ नहीं सकता। इसलिए तू तो नित्य कर्तव्य-कर्म करता रह, परन्तु उससे राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति मत रख। जो अनासक्ति पूर्वक कर्माचरण करता है, वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। और देख। जनक के समान निस्पृही

राजा कर्म करते-करते सिद्धि पा गये; क्योंकि वे लोकहित के लिए कर्म करते थे। तो फिर तू इसके विपरीत आचरण कैसे कर सकता है? नियम ही ऐसा है, कि अच्छे और बड़े माने जानेवाले लोग जैसा आचरण करते हैं, जन-साधारण उन्हीं की नक़ल करते हैं। मुझे देख। मुझे कर्म करके कौनसा स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसों घण्टे अविराम कर्म में ही लगा रहता हूँ। और यह देखकर लोग भी तदनुसार कम या अधिक मात्रा में बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य करूँ तो दुनिया का क्या हो? सूर्य, चन्द्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जाय और जगत् का नाश हो; यह तो तू समझ सकता है। और इन सबको गति देनेवाला—नियम में रखनेवाला—तो मैं ही हूँ न? पर लोगों में और मुझमें इतना फ़र्क़ ज़रूर है—मुझे आसक्ति नहीं; लोग आसक्त हैं; स्वार्थ के वश होकर मज़दूरी किया करते हैं। तुझ जैसा समझदार ज्ञानी यदि कर्म छोड़े, तो लोग भी वैसा ही करें। और बुद्धि-भ्रष्ट बनें। तुझे तो आसक्ति छोड़कर कर्त्तव्य करना चाहिये जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों, और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य के स्वभाव में जो गुण विद्यमान हैं, उनके वश होकर वह कार्य तो करता ही रहेगा। मूर्ख ही यह मानता है, कि मैं करता हूँ। साँस लेना जीव-मात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर किसीके बैठते ही मनुष्य स्वभावतः पलक हिलाता है। तब वह नहीं कहता, कि 'मैं साँस लेता हूँ', 'मैं पलक मारता हूँ'। यों, जितने कर्म किये जायँ वे सब स्वभाव से ही गुणानुसार क्यों नहीं? उनके लिये अहंकार क्या? और

इस प्रकार बिना ममत्व के सहज कर्म करने का सुवर्ण-मार्ग यह है कि सब कर्म मेरे अर्पण किये जायँ और मेरे निमित्त निर्मम होकर किये जायँ। यों करते हुए जब मनुष्य में से अहंवृत्ति, स्वार्थभाव नष्ट होता है, तब उसके कर्म-मात्र स्वाभाविक और निर्दोष बन जाते हैं। वह अनेक झंझटों से मुक्त हो जाता है। फिर उसके लिए कर्मबन्धन—जैसा कुछ नहीं रहता, और जहाँ स्वभाव के अनुसार कर्म होता है, वहं बलात् न करने का दावा करने में ही अहंता है। ऐसा बलात्कार करनेवाला भले, बाहर से कुछ न करता हुआ-सा प्रतीत हो, भीतर तो उसका सब प्रपञ्च चलता ही रहता है। यह बाह्य चेष्टा से भी बुरा है, और अधिक बन्धनकारक है।

हक़ीक़त यह है कि इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष रहता ही है। कान को अमुक सुनना पसन्द होता है और अमुक नापसन्द; नाक को गुलाब का फूल सूँघना पसन्द पड़ता है, मल आदि की दुर्गन्ध नहीं भाती। यही हाल सब इन्द्रियों का समझ ले। अतएव मनुष्य को जो करना है, वह तो यह है कि वह इन राग-द्वेष रूपी दो लुटेरों के वश में कभी न हो, और इन्हें निकाल बाहर फेंके। कर्म को ढूँढ़ता न फिरे; आज यह, कल दूसरा, परसों तीसरा, यों व्यर्थ हाथ-पैर न पटके। पर अपने हिस्से जो सेवा आवे, उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करने को तत्पर रहे। इस प्रकार करने से यह भावना उत्पन्न होगी कि जो कुछ करते हैं वह ईश्वर ही कराता है। यह ज्ञान उपजेगा और अहंभाव मिट जायगा। इसका नाम है, स्वधर्म। स्वधर्म पर डटे रहना, क्योंकि निजके

लिये वही उत्तम है। भले, परधर्म अधिक अच्छा दिखाई देता हो, तो भी वह भयानक है, यह समझ। स्वधर्म का आचरण करते हुए मृत्यु की भेंट करने में मोक्ष है।

राग-द्वेष-रहित होकर ही कर्म करना चाहिये। वही यज्ञ है। जब भगवान् ने यह कहा, तो अर्जुन ने पूछा—'मनुष्य किसकी प्रेरणा से पापकर्म करता है? अकसर ऐसा मालूम होता है, मानो कोई ज़बरदस्ती इसे पाप-कर्म की ओर घसीटता हो।"

भगवान् बोले—मनुष्य को पापकर्म की ओर घसीटनेवाला काम है, और क्रोध है। ये सगे भाई-से हैं। काम पूरा न हुआ कि क्रोध आकर खड़ा ही तो है। और जिसमें काम-क्रोध है उसे हम रजोगुणी कहते हैं। मनुष्य का बड़ा शत्रु यही है। इससे रोज युद्ध करना है। दर्पण पर धूल छा जाने से जैसे वह धुँधला हो जाता है, अथवा आग जबतक धुआँ होता है, तबतक ठीक से सुलगती नहीं, या गर्भ जबतक झिल्ली से ढका रहता है, तबतक उसका दम घुटता रहता है, वैसे ही काम-क्रोध ज्ञानी के ज्ञान को तेजस्वी नहीं होने देते, धुँधला कर देते हैं या उसका दम घोंट देते हैं। यह काम अग्नि के समान विकराल है, और इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सबको अपने वश करके मनुष्य को पछाड़ता है। इसलिये तू सबसे पहले इन्द्रियों पर कब्ज़ा जमा ले, फिर मन को जीतना, ऐसा करते हुए बुद्धि, भी तेरे वश होकर रहेगी। क्योंकि यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर एक दूसरे से बढ़कर हैं, तो भी इन सबकी अपेक्षा आत्मा

बहुत अधिक है। मनुष्य को आत्मा को-अपनी-शक्ति का भान नहीं है, इसी कारण वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, या मन नहीं रहता, या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही दूसरा सब आसान हो जाता है। और जिसने इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को वश में रखा है, काम-क्रोध या उनकी असंख्य सेना उसका कुछ भी नहीं कर सकती।

इस अध्याय को मैंने गीता को समझने की कुंजी कहा है। और उसका सार हम एक वाक्य में यह देखते हैं कि 'जीवन सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं।' इसलिए हमें जीवन को यज्ञमय बना लेना चाहिये। यह समझ लेने से ही ऐसा हो नहीं जाता। पर यह जानकर आचरण करते हुए हम उत्तरोतर शुद्ध बनते हैं। किन्तु सच्ची सेवा किसे कहा जाय? यह जानने के लिए इन्द्रिय-दमन आवश्यक है। ऐसा करने से हम उत्तरोत्तर सत्यरूपी परमात्मा के निकट पहुँचते जाते हैं। युग-युग में हमें सत्य के अधिक दर्शन होते हैं। सेवा-कार्य भी यदि स्वार्थ की दृष्टि से किया जाय तो वह यज्ञ नहीं रहता। इसीलिए अनासक्ति की परम आवश्यकता है। इतना जान चुकने पर हमें किसी दूसरे तीसरे वाद-विवाद में नहीं पड़ना पड़ता। अर्जुन को सचमुच ही स्वजनों को मारने का बोध दिया था? क्या उसमें धर्म था? ऐसे प्रश्न उठते नहीं। अनासक्ति आनेपर हमारे हाथ में किसी को मारने की छुरी होते हुए भी, सहज ही वह छूट जाती है। पर अनासक्ति का आडम्बर करने से वह नहीं

आती। हम प्रयत्न करें, तो आज आवे, या हज़ारों वर्ष प्रयत्न करने पर भी न आवे। इसकी भी चिन्ता हमें छोड़नी होगी। प्रयत्न में ही सफलता है। प्रयत्न सचमुच ही करते हैं, कि नहीं, हमें इसकी पूरी निगरानी रखने की आवश्यकता है। इसमें आत्मा को धोखा न देना चाहिए। और इतना ध्यान रखना तो सबके लिये शक्य है ही।]

[यरवडा मन्दिर ता० २४-२५।१२।३०

[३]

यह अध्याय गीता का स्वरूप जानने की कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और, सच्चा कर्म किसे कहना चाहिए, यह साफ़ किया गया है। और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मों म परिणत होना ही चाहिए।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यदि आप कर्म से बुद्धि को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव ! आप मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं ? १

टिप्पणी—बुद्धि अर्थात् समत्वबुद्धि ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अपने मिश्र वचनों से मेरी बुद्धि को आप मानों शंकाशील बना रहे हैं। इसलिए आप मुझसे एक

ही बात निश्चयपूर्वक कहिए, कि जिससे मेरा कल्याण हो ! २

टिप्पणी—अर्जुन उलझन में पड़ जाता है, क्योंकि एक ओर से भगवान् उसे शिथिल होने के लिए उलहना देते हैं और दूसरी ओर दूसरे अध्याय के ४९-५० श्लोकों में कर्मत्याग का आभास आ जाता है। भगवान् यह आगे बतलायेंगे कि गंभीरता से विचारो, तो ऐसा नहीं है।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पापरहित ! इस लोक में मैंने पहले दो अवस्थायें बतलाई हैं। एक तो ज्ञानयोग द्वारा सांख्यों की, दूसरी कर्मयोग द्वारा योगियों की। ३

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

मनुष्य कर्म का आरम्भ न करने से निष्कर्मता का अनुभव नहीं करता है, और, न कर्म के केवल बाहरी त्याग से मोक्ष पाता है। ४

टिप्पणी—निष्कर्मता अर्थात् मन से, वाणी से, और शरीर से

कर्म का न करना। ऐसी निष्कर्मता का अनुभव कोई कर्म न करने से कर नहीं सकता। तब इसका अनुभव कैसे हो, सो अब देखना है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

वास्तव में कोई एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण जबर्दस्ती पड़े प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं। ५

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इन्द्रियों को रोकता है, परन्तु उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन मन से करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है। ६

टिप्पणी—जैसे, जो वाणी को तो रोकता है, पर मन में किसी को गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि जबतक मन न रोका जा सके, तबतक शरीर को रोकना निरर्थक है। शरीर को रोके बिना मन पर अंकुश आता ही नहीं। परन्तु शरीर के अंकुश के साथ-साथ मन पर अंकुश रखने का प्रयत्न होना ही चाहिए। जो लोग भय या ऐसे ही बाहरी कारणों से शरीर को रोकते हैं, परन्तु मन को नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मन से तो विषयों का भोग करते रहते हैं, और मौका मिले, तो

शरीर से भी भोगें ऐसे मिथ्याचारी की यहाँ निन्दा है। इसके आगे के श्लोक में इससे उलटा भाव दरसाते हैं।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य इन्द्रियों को मन से नियम में रखकर, संगरहित होकर, कर्म करनेवाली इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष है। ७

टिप्पणी—इसमें बाहर और अन्दर का मेल साधा है। मन को अंकुश में रखते हुए भी मनुष्य शरीर द्वारा अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा, कुछ-न-कुछ तो करेगा ही। परन्तु जिसका मन अंकुशित है, उसके कान दूषित बातें न सुनकर ईश्वर भजन सुनेंगे, सत्पुरुषों का गुण-गान सुनेंगे। जिसका मन अपने वश में है, वह जिसे हम लोग विषय समझते हैं, उसमें रस नहीं लेगा। ऐसा मनुष्य आत्मा को शोभा देने वाले कर्म ही करेगा। ऐसे कर्मों का करना कर्ममार्ग है। जिस यत्न से आत्मा का शरीर के बन्धन से छूटने का योग सधे, वह कर्मयोग है। इसमें विषयासक्ति को स्थान होता ही नहीं।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इसलिए तू नियत कर्म कर। कर्म न करने से कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीर का व्यापार भी कर्म बिना नहीं चल सकता। ८

टिप्पणी—नियत शब्द मूल श्लोक में है। उसका सम्बन्ध पिछले श्लोक से है। उसमें मन द्वारा इन्द्रियों को नियम में रखते हुए संग रहित होकर कर्म करनेवाले की स्तुति है। यहाँ नियत कर्म का अर्थात् इन्द्रियों को नियम में रखकर किये जानेवाले कर्म का। अनु-रोध किया गया है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

जो कर्म यज्ञ के लिए किये जाते हैं, उनके अ-तिरिक्त कर्मों से इस लोक में बन्धन पैदा होता है। इसलिए हे कौन्तेय ! तू राग-रहित हो यज्ञार्थ कर्म कर।

टिप्पणी—यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

यज्ञ के सहित प्रजा को उपजाकर प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—इस यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें मनचाहा फल दे। १०

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

'यज्ञ द्वारा तुम देवताओं का पोषण करो और

देवता तुम्हारा पोषण करें, और एक दूसरे का पालन करके तुम परम कल्याण को पाओ। ११

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें मनचाहे भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ, जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।' १२

टिप्पणी—यहाँ देव का अर्थ है भूतमात्र, ईश्वर की सृष्टि। भूतमात्र की सेवा, देव-सेवा है, और वह यज्ञ है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

जो यज्ञ से बचा हुआ खानेवाले हैं, वे सब पापों से छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। १३

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥

अन्न से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है। १४

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तू ऐसा समझ कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्व-व्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में रहता है। १५

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो अनुकरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इन्द्रियों के सुखों में फँसा रहता है और हे पार्थ ! वह व्यर्थ जीता है। १६

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

पर जो मनुष्य आत्मा में रमण करता है, जो उसीसे तृप्त रहता है और उसीमें सन्तोष मानता है, उसे कुछ करना नहीं रहता। १७

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

करने न करने में उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। भूतमात्र में उसे कोई निजी स्वार्थ नहीं है। १८

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तू तो संगरहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म कर। असंग रहकर ही कर्म करने वाला पुरुष मोक्ष पाता है। १९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि कर्म से ही परमसिद्धि को पा गये हैं। लोकसंग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना उचित है। २०

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं उसका अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं उसका लोग अनुसरण करते हैं। २१

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करने को नहीं है । पाने योग्य कोई वस्तु पाई न हो ऐसा नहीं है तो भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ । २२

टिप्पणी—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादि की अविराम और अचूक गति ईश्वर के कर्म सूचित करती हैं । ये कर्म मानसिक नहीं किन्तु शारीरिक गिने जा सकते हैं । ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म कैसे करता है, ऐसी शंका की गुंजाइश नहीं है । क्योंकि वह अशरीर होने पर भी शरीर की तरह ही आचरण करता हुआ दिखाई देता है । इसलिए वह कर्म करते हुए भी अकर्मी और अलिप्त है । मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है, वैसे ही मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किन्तु यन्त्र की भांति ही नियम से काम करना चाहिए । मनुष्य की विशेषता इसमें नहीं है कि वह यन्त्र की गति का अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जाय, उसे चाहिए कि समझ-बूझ कर उस गति का अनुकरण करे । अलिप्त और असंग रहकर, यंत्र की तरह कार्य करने से वह घिसता नहीं । वह मरने तक तांबा रहता है । देह के नियम के अनुसार देह समय पर नष्ट होती है, परन्तु उसके अन्दर का आत्मा ज्यों-का-त्यों ही रहता है ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं कभी अँगड़ाई लेने के लिए भी रुके बिना कर्म में लगा न रहूँ तो हे पार्थ ! लोग सब

तरह से मेरे आचरण के अनुसार चलने लगेंगे।२३

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः २४

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक भ्रष्ट हो जायँ, मैं अव्यवस्था का कर्त्ता बनूं और इन लोकों का नाश करूँ। २४

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत ! जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर काम करते हैं, वैसे ज्ञानी को आसक्तिरहित होकर लोककल्याण की इच्छा से काम करना चाहिए। २५

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् २६

कर्म में आसक्त अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को ज्ञानी डाँवाडोल न करे, परन्तु समत्वपूर्वक अच्छी तरह कर्म करके उन्हें सब कर्मों में लगावे। २६

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए होते

हैं। अहंकार से मूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मानता है। २७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभाग का रहस्य जाननेवाला पुरुष 'गुण गुणों में बर्त्त रहे हैं' ऐसा मानकर उसमें आसक्त नहीं होता। २८

टिप्पणी—जैसे श्वासोच्छ्वास आदि की क्रियायें अपने-आप होती रहती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता और जब उन अङ्गों को कोई बीमारी होती है तभी मनुष्य को उनकी चिन्ता करनी पड़ती है या उसे उन अङ्गों के अस्तित्व का भान होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने-आप होते हों तो उनमें आसक्ति नहीं होती। जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारता को जानता भी नहीं; परन्तु उससे दान किये बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसी अनासक्ति अभ्यास और ईश्वरकृपा से ही प्राप्त होती है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् २९

प्रकृति के गुणों से मोहे हुए मनुष्य गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं। ज्ञानियों को चाहिए कि वे इन अज्ञानी, मंदबुद्धि लोगों को अस्थिर न करें।२९

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ३०॥

अध्यात्मवृत्ति रखकर सब कर्म मुझे अर्पण करके आसक्ति और ममत्व को छोड़ रागरहित होकर तू युद्ध कर। ३०

टिप्पणी—जो देह में रहते हुए आत्मा को पहचानता है और उसे परमात्मा का अंश जानता है वह सब परमात्मा को ही अर्पण करेगा। वैसे ही जैसे कि नौकर मालिक के नाम पर काम करता है और सब कुछ उसीको अर्पण करता है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ३१॥

श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़कर जो मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार चलते हैं, वे भी कर्म बन्धन से छूट जाते हैं। ३१

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो मेरे इस अभिप्राय में दोष निकाल कर उसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझ। ३२

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ३३॥

ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुसार बर्तते हैं, प्राणीमात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं, वहाँ बलात्कार क्या कर सकता है ? ३३

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्याय के ६१ वें या ६८ वें श्लोक का विरोधी नहीं है। इन्द्रियों का निग्रह करते-करते मनुष्य को मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार निरर्थक है। इसमें निग्रह की निन्दा नहीं की गई है, स्वभाव का साम्राज्य दिखलाया गया है। यह तो मेरा स्वभाव है, यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो वह इस श्लोक का अर्थ नहीं समझता। स्वभाव का हमें पता नहीं चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। और आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। इसलिए आत्मा जब नीचे उतरे तब उसका सामना करना कर्तव्य है। इसीसे नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अपने-अपने विषयों के सम्बन्ध में इन्द्रियों को रागद्वेष रहता ही है। मनुष्य को उनके वश न होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्य के मार्ग के बाधक हैं। ३४

टिप्पणी—कानका विषय है सुनना, जो भावे वही सुनने की

इच्छा राग है । जो न भावे सुनने की अनिच्छा द्वेष है । 'यह तो स्वभाव है' यह कहकर राग-द्वेष के वश नहीं होना चाहिए, उसका सामना करना चाहिए। आत्मा का स्वभाव सुख-दुःख से अछूते रहना है । उस स्वभाव तक मनुष्य को पहुँचना है ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

पराये धर्म के सुलभ होनेपर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्म में मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है। ३५

टिप्पणी—समाज में एक का धर्म झाड़ू देने का होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखने का होता है । हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय, परन्तु झाड़ू देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जाय और समाज को हानि पहुँचे । ईश्वर के यहाँ दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार कूता जायगा । व्यवसाय का मूल्य वहाँ तो एक ही हो सकता है । दोनों ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्तव्य पालन करें तो समान-रूप से मोक्षके अधिकारी बनते हैं ।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ३६॥

अर्जुन बोले—

हे वार्ष्णेय ! मानों बलात्कार से लगता हुआ न चाहता हुआ भी मनुष्य जो पाप करता रहता है, वह किस की प्रेरणा से ? ३६

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।३७।

श्रीभगवान् बोले—

रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता । यह महापापी है, इसे इस लोक में शत्रुरूप समझ । ३७

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अन्तर में रहनेवाला चाहे काम कहिए, चाहे क्रोध—वही है ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस तरह धुँयें से आग, मैल से दर्पण किंवा झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी तरह कामादिरूप शत्रु से यह ज्ञान ढका रहता है । ३८

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय ! तृप्त न किया जा सकनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्य का शत्रु है। उससे ज्ञानी का ज्ञान ढका रहता है। ३९

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इस शत्रु के निवास-स्थान हैं। इनके द्वारा ज्ञान को ढककर यह शत्रु देह-धारी को बेसुध कर देता है। ४०

टिप्पणी—इन्द्रियों में काम व्याप्त होने के कारण मन मलिन होता है, उससे विवेकशक्ति मन्द पड़ती है, उससे ज्ञानका नाश होता है। देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले तो इन्द्रियों को नियम में रखकर इस ज्ञान और अनुभव का नाश करनेवाले इस पापी का अवश्य त्याग कर। ४१

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है,

उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धि से भी अत्यन्त सूक्ष्म है वह आत्मा है। ४२

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इन्द्रियाँ वश में रहें तो सूक्ष्म काम को जीतना सहज हो जाय।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस तरह बुद्धि से परे आत्मा को पहचान कर और आत्मा द्वारा मन को वश करके हे महाबाहो! कामरूप दुर्जय शत्रु का संहार कर। ४३

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्मा को जान ले तो मन उसके वश में रहेगा, इन्द्रियों के वश में नहीं रहेगा। और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है?

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

[४]

ज्ञान-कर्मयोग

[मंगलप्रभात

[भगवान् अर्जुन से कहते हैं—मैंने तुझे जो निष्काम कर्मयोग बताया, वह बहुत प्राचीन काल से चला आया है। यह कोई नई बात नहीं। तू प्रिय भक्त है इसलिए, और, अभी तू धर्म-सङ्कट में है, इसलिए उससे मुक्त करने के लिए मैंने तुझे यह सिखाया है। जब-जब धर्म की निन्दा होती है और अधर्म फैलता है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ। भक्तों की रक्षा करता हूँ। पापियों का संहार करता हूँ। मेरी इस माया को जो जानता है और विश्वास रखता है कि अधर्म का लोप होगा ही, साधु पुरुष का रक्षक-बली-ईश्वर है ही, वह धर्म का त्याग नहीं करता और अन्त में मुझे पाता है। चूँकि ऐसे लोग मेरा ध्यान धरने वाले होते हैं, मेरा आश्रय लेने वाले होते हैं, इसलिए काम-क्रोधादि से मुक्त रहते हैं, और तप और ज्ञान द्वारा शुद्ध रहते हैं। मनुष्य जैसा करते हैं, वैसा फल पाते हैं। मेरे क़ानूनों से बाहर जाकर कोई रह नहीं सकता। गुण-कर्म के भेदानुसार मैंने चार वर्ण पैदा किये हैं, तो भी यह न मान कि मैं उनका कर्त्ता हूँ। क्योंकि मुझे उस कार्य से किसी फल की अपेक्षा नहीं, उसका पाप-पुण्य मुझे न होगा। यह

ईश्वरी माया समझने-जैसी है। जगत् में जो भी काम होता है वह सब ईश्वरीय नियमों के अनुसार होता है, तथा ईश्वर उससे अलिप्त रहता है,इसलिए वह उसका कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी। यों अलिप्त रह कर बिना फल की इच्छा किये जिस प्रकार ईश्वर बरतता है वैसे मनुष्य भी बरते तो अवश्य मोक्ष पावे। ऐसा मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है। मजदूरी में न हो तो भी क्रिया-रूप में उसका फल मिलता ही है। फल तो अनन्त है, पर क्रिया में तादात्म्य होना चाहिए। ऐसा करते हुए याज्ञिक में पवित्रता इत्यादि भी होनी चाहिए, ऐसे समय याज्ञिक को किसी प्रकार कामना नहीं होनी चाहिए।

निष्काम कर्म

मनुष्य को न करने योग्य काम की भी तुरन्त ही खबर हो जाया करती है। जिनके लिए कामना है, जो बिना कामना के हो ही नहीं सकते वे सब न करने के कर्म कहाते हैं जैसे कि चोरी-व्यभिचार। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रह कर नहीं कर सकता। अतएव जो कामना और संकल्पों को छोड़ कर कर्त्तव्य-कर्म करता रहता है, कह सकते हैं कि उसने अपनी ज्ञान रूपी अग्नि द्वारा अपने कर्म जला डाले हैं। इस प्रकार जिसने कर्म-फल का संग छोड़ा है, वह आदमी हमेशा सन्तुष्ट रहता है, सदा स्वतंत्र होता है, वह किसी प्रकार के संग्रह में नहीं पड़ता और जैसे नीरोग मनुष्य क शारीरिक क्रियायें सहज गति से हुआ करती हैं, वह स्वयं उन्हें कर रहा है, इस बात का

अभिमान उसे नहीं होता, ईमान तक नहीं रहता स्वयं निमित्त मात्र बना रहता है। सफलता मिली तो भी क्या और निष्फलता मिली तो भी क्या—वह न फूल उठता है, न घबराता है। उसके कर्म मात्र यज्ञरूप-सेवार्थ होते हैं। वह समस्त कर्मों में ईश्वर को ही देखता है और अन्त में ईश्वर को ही पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकार के बताये गये हैं उन सब के मूल में शुद्धि और सेवा होती है। इन्द्रिय-दमन एक प्रकार का यज्ञ है। किसी को दान देना दूसरा प्रकार है। प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए किया गया यज्ञ है। इसका ज्ञान किसी जानकार,गुरु से सीखा जा सकता है। सब बिना समझे ज्ञान के नाम से अनेक प्रवृत्तियाँ शुरू कर दें तो अज्ञान-जन्य होने के कारण भले के बदले बुरा भी कर बैठें। इसलिए प्रत्येक कार्य के ज्ञान-पूर्वक होने की पूरी आवश्यकता है।

यह ज्ञान अक्षर-ज्ञान नहीं। इस ज्ञान में शंका को स्थान ही नहीं रहता। श्रद्धा से इसका आरम्भ होता है और अन्त में अनुभव से ऐसे ज्ञान द्वारा मनुष्य सब जीवों को अपने में देखता है और अपने को ईश्वर में—अर्थात् उसे यह सब प्रत्यक्ष की भाँति ईश्वरमय प्रतीत होता है। यह ज्ञान पापियों में भी, जो नामी पापी है, उसका भी उद्धार करता है। यह ज्ञान मनुष्य को कर्म-बन्धन से मुक्त करता है। अर्थात् कर्म के फल उसे स्पर्श नहीं करते। इस-सा पवित्र इस जगत् में और कुछ नहीं। इसलिए तू श्रद्धा रख

कर, ईश्वर परायण होकर इन्द्रियों को वश में रखकर यह ज्ञान पाने का प्रयत्न करना;इससे तुझे परम शान्ति मिलेगी।

यह अध्याय, तथा तीसरा और पाँचवाँ अध्याय—ये तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। इनसे अनासक्ति योग क्या है, यह मालूम हो जाता है। यह अनासक्ति-निष्कामता कैसे मिल सकती है, इनमें बहुत कुछ हद तक दिया है। इन तीनों अध्यायों को भलीभाँति समझ लेने पर बाद के अध्यायों को समझने में कम कठिनाई पड़ती है। बाद के अध्याय हमें अनासक्ति पाने के साधन अनेक रीति से बताते हैं। इस दृष्टि से गीता का अभ्यास हमारे लिए जरूरी है। ऐसा करते हुए हम अपनी दैनिक उलझनों को गीता द्वारा बिना परिश्रम के सुलझा सकेंगे। रोज़मर्रा के महावरे से—अभ्यास से—यह हो सकता है। सब आज-माइश कर देखें। क्रोध चढ़ा नहीं कि तुरन्त ही तत्सम्बन्धी श्लोक याद करके दबा दिया, किसी से द्वेष होने लगे, धै' छूटने लगे, अघोरीपन—पेटूपन—सवारी गाँठने लगे, क्या करना, क्या न करना, ऐसा संकट आ पड़े, तब ऐसे तमाम सवालों का हल यदि श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो गीता-माता के नज़दीक मिल जाता है। हमें इसकी बान हो जाय,इसीलिए रोज़ का परायण है,इसी कारण यह प्रयत्न है।]

[यरवडा मन्दिर ता० १-१२-३०

इस अध्याय में तीसरे का विशेष विवेचन है। और भिन्न भिन्न प्रकार के कई यज्ञों का वर्णन है।

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्री भगवान बोले—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान (सूर्य) से कहा। उन्होंने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। १

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परा से मिला हुआ, राजर्षियों का जाना हुआ वह योग दीर्घकाल बीतने से नष्ट हो गया। २

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही पुरातन योग मैंने आज तुझे बतलाया है, क्योंकि तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्म की बात है। ३

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो इधर का है, विवस्वान का पहले हो चुका है। तब मैं कैसे जानूँ कि आपने वह (योग) पहले कहा था? ४

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्री भगवान बोले—

हे अर्जुन! मेरे और तेरे जन्म तो बहुत हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता। ५

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं अजन्मा, अविनाशी और भूतमात्र का ईश्वर होते हुए भी अपने स्वभाव को लेकर अपनी माया से जन्म ग्रहण करता हूँ । ६

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत ! जब-जब धर्म मन्द पड़ता है, अधर्म ज़ोर करता है, तब-तब मैं जन्म ग्रहण करता हूँ । ७

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश तथा धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए युग-युग में मैं जन्म लेता हूँ । ८

टिप्पणी—यहाँ श्रद्धालु को आश्वासन है और सत्य की—धर्म की अविचलता की प्रतिज्ञा है । इस संसार में ज्वारभाटा हुआ ही करता है, परन्तु अन्त में धर्म की ही जय होती है । सन्तों का नाश नहीं होता, क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता । दुष्टों का नाश ही है, क्योंकि असत्य का अस्तित्व नहीं है । ऐसा जान कर मनुष्य अपने कर्तापन के अभिमान से हिंसा न करे, दुराचार न करे । ईश्वर की गहन माया अपना काम करती ही रहती है । यही अवतार या ईश्वर का जन्म है । वस्तुतः ईश्वर को जन्म ही नहीं लेना होता ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

इस तरह जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य जानता है वह, हे अर्जुन ! शरीर का त्याग कर पुनर्जन्म नहीं पाता, पर मुझे पाता है । ९

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्य की ही जय कराता है तब वह सत्य को नहीं छोड़ता, धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममतारहित रहने के कारण जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर ईश्वर का ही ध्यान करते हुए उन्हींमें लय हो जाता है ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित हुए, मेरा ही ध्यान धरते हुए मेरा ही आश्रय लेनेवाले, ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए बहुतेरों ने मेरे स्वरूप को पाया है । १०

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं मैं उन्हें उसी प्रकार फल देता हूँ । चाहे जिस तरह भी हो,

हे पार्थ ! मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं—
मेरे शासन में रहते हैं। ११

टिप्पणी—तात्पर्य, कोई ईश्वरी कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसा बोता है वैसा काटता है, जैसी करनी वैसी पार उतरनी। ईश्वरी कानून में—कर्म के नियम में अपवाद नहीं है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यता के अनुसार न्याय मिलता है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्म की सिद्धि चाहनेवाले इस लोक में देवताओं को पूजते हैं। इससे उन्हें कर्म-जनित फल तुरन्त मनुष्यलोक में ही मिल जाता है। १२

टिप्पणी—देवता अर्थात् स्वर्ग में रहनेवाले इन्द्र वरुणादि व्यक्ति नहीं। देवता का अर्थ है ईश्वर की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है। भाफ, बिजली आदि महान् शक्तियाँ देवता हैं। उनकी आराधना का फल तुरन्त और इसी लोक में मिलता हुआ हम देखते हैं। वह फल क्षणिक होता है। वह आत्मा को सन्तोष नहीं देता, तो फिर मोक्ष तो दे ही कहाँ से सकता है ?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्म के विभागानुसार मैंने चार वर्ण

उत्पन्न किये हैं । उनका कर्ता होने पर भी मुझे तू अविनाशी अकर्ता समझ । १३

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते । मुझे इसके फल की लालसा नहीं है । इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं वे कर्म के बन्धन में नहीं पड़ते । १४

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्य के सामने कर्म करते हुए अकर्मी रहने का सर्वोत्तम दृष्टान्त है । और सबका कर्ता ईश्वर ही है, हम निमित्तमात्र ही हैं, तो फिर कर्तापन का अभिमान कैसे हो सकता है ?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

यों जानकर पूर्वकाल में मुमुक्षु लोगों ने कर्म किये हैं । इससे तू भी पूर्वज जैसे सदा से करते आये हैं वैसे कर । १५

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में समझदार लोग भी मोह में पड़े हैं । उस कर्म के विषय

में मैं तुझे अच्छी तरह बतलाऊँगा। उसे जानकर तू अशुभ से बचेगा। १६

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म, निषिद्धकर्म और अकर्म का भेद जानना चाहिए। कर्म की गति गूढ़ है। १७

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्म में जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है, वह लोगों में बुद्धिमान गिना जाता है। वह योगी है और वह सम्पूर्ण कर्म करने-वाला है। १८

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापन का अभिमान नहीं रखता, उसका कर्म अकर्म है, और जो बाहर से कर्म का त्याग करते हुए भी मन के महल बनाता ही रहता है, उसका अकर्म कर्म है। जिसे लकवा हो गया है, वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंग को हिलाता है, तब वह हिलता है। वह बीमार अंग हिलाने की क्रिया का कर्ता बना। आत्मा का गुण अकर्ता का है। जो मोहग्रस्त होकर अपनेको कर्ता मानता है, उस आत्मा को मानो लकवा हो गया है और वह अभिमानी होकर कर्म करता है। इस भांति जो कर्म की गति को जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्तव्य-

परायण गिना जाता है। 'मैं करता हूँ' यह माननेवाला कर्म-विकर्म का भेद भूल जाता है और साधन के भले-बुरे का विचार नहीं करता। आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए जब मनुष्य नीतिमार्ग से हटता है तब उसमें अहंकार अवश्य है यह कहा जा सकता है। अभिमानरहित पुरुष के कर्म स्वभाव से ही सात्त्विक होते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके समस्त आरम्भ कामना और संकल्प-रहित हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गये हैं, ऐसे को ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं। १९

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

जिसने कर्मफल का त्याग किया है, जो सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रय की लालसा नहीं है, वह कर्म में अच्छी तरह लगा रहने पर भी कुछ नहीं करता, यह कहा जा सकता। २०

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्म का बन्धन भोगना नहीं पड़ता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वश में

है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर ही मात्र कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नहीं होता। २१

टिप्पणी—अभिमानपूर्वक किया हुआ सारा कर्म चाहे जैसा सात्त्विक होने पर भी बन्धन करनेवाला है। वह जब ईश्वरार्पण बुद्धि से बिना अभिमान के होता है, तब बन्धनरहित बनता है। जिसका 'मैं' शून्यता को प्राप्त हो गया है, उसका शरीर ही भर कर्म करता है। सोते हुए मनुष्य का शरीर ही भर कर्म करता है, यह कहा जा सकता है। जो क़ैदी विवश होकर अनिच्छा से हल चलाता है, उसका शरीर ही भर काम करता है। जो अपनी इच्छा से ईश्वर का क़ैदी बना है, उसका भी शरीर ही भर काम करता है। स्वयं शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जो यथालाभ से सन्तुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त हो गया है, जो द्वेषरहित हो गया है, जो सफलता-निष्फलता में तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ता। २२

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो आसक्तिरहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है,

जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करने वाला है, उसके सारे कर्म लय हो जाते हैं। २३

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

(यज्ञ में) अर्पण ब्रह्म है, हवन की वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करनेवाला भी ब्रह्म है। इस प्रकार कर्म के साथ जिसने ब्रह्म का मेल साधा है, वह ब्रह्म को ही पाता। २४

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

कितने ही योगी देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और कितने ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञद्वारा यज्ञ को ही होमते हैं। २५

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

कितने ही श्रवणादि इन्द्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं और कुछ शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होमते हैं। २६

टिप्पणी—एक तो सुनने की क्रिया इत्यादि का संयम करना और दूसरे इन्द्रियों को उपयोग में लाते हुए उनके विषयों को प्रभु-प्रीत्यर्थ काम में लाना, जैसे भजनादि सुनना। वस्तुतः दोनों एक हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

और कितने ही समस्त इन्द्रियकर्मों को और प्राणकर्मों को ज्ञानदीपक से प्रज्वलित की हुई आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में होमते हैं। २७

टिप्पणी—अर्थात् परमात्मा में तन्मय हो जाते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देनेवाले होते हैं; कोई तप करनेवाले होते हैं। कितने ही अष्टाङ्ग योग साधनेवाले होते हैं। कितने ही स्वाध्याय और ज्ञान-यज्ञ करते हैं। ये सब कठिन व्रतधारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं। २८

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कितने ही प्राणायाम में तत्पर रहनेवाले अपान प्राणवायु में होमते हैं, प्राण को अपान में होमते हैं, अथवा प्राण और अपान दोनों का अवरोध करते हैं। २९

टिप्पणी—तीन प्रकार के प्राणायाम यह हैं:—रेचक, पूरक और कुम्भक। संस्कृत में प्राणवायु का अर्थ गुजराती (और हिन्दी)

की अपेक्षा उलटा है। यह प्राणवायु अन्दर से बाहर निकलनेवाला है। हम बाहर से जिसे अन्दर खींचते हैं उसे प्राणवायु आक्सीजन कहते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे आहार का संयम करके प्राणों को प्राण में होमते हैं। जिन्होंने यज्ञों द्वारा अपने पापों को क्षय कर दिया है, ये सब यज्ञ के जाननेवाले हैं। ३०

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुसत्तम ! यज्ञ से बचा हुआ अमृत खानेवाले लोग सनातन ब्रह्म को पाते हैं—यज्ञ न करनेवाले के लिए यह लोक नहीं है, तब परलोक कहाँ से हो सकता है ? ३१

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस प्रकार वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन हुआ है। इन सबको कर्म से उत्पन्न हुए जान। इस प्रकार सबको जान कर तू मोक्ष पावेगा। ३२

टिप्पणी—यहाँ कर्म का व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना इसका नाम है यज्ञों का जानना। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य अपना शरीर, बुद्धि और आत्मा प्रभु-प्रीत्यर्थ-लोक-सेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता। जो केवल बुद्धिशक्ति को ही काम में लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे वह पूरा याज्ञिक नहीं है; ये शक्तियाँ प्राप्त किये बिना इसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए आत्मशुद्धि के बिना लोक-सेवा असम्भव है। सेवक का शरीर, बुद्धि और आत्मा—नीति तीनों का समान रूप से विकास करना कर्तव्य है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परन्तप! द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ! कर्ममात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं। ३३

टिप्पणी—परोपकारवृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञान-पूर्वक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है? अच्छी वृत्ति से होनेवाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं जब उनके साथ ज्ञान का मेल हो। इसलिए कर्ममात्र की पूर्णाहुति ज्ञान में ही है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इसे तू तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेकसहित बारंबार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे। ३४

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करने की तीन शर्तें, प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इस युग में खूब ध्यान में रखने योग्य हैं। प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक; परिप्रश्न अर्थात् बार-बार पूछना; सेवारहित नम्रता खुशामद में शुमार हो सकती है। फिर, ज्ञान खोज के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए जबतक समझ में न आवे तबतक शिष्य का गुरु से नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासा की निशानी है, इसमें श्रद्धा की आवश्यकता है। जिसपर श्रद्धा नहीं होती, उसकी ओर हार्दिक नम्रता नहीं होती; उसकी सेवा तो हो ही कहाँ से सकती है?

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यह ज्ञान पाने के बाद, हे पाण्डव! फिर तुझे ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञान द्वारा तू भूतमात्र को आत्मा में और मुझमें देखेगा। ३५

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का यही अर्थ है। जिसे आत्मदर्शन हो गया है वह अपने आत्मा और दूसरों के आत्मा में भेद नहीं देखता।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

समस्त पापियों में तू बड़े-से-बड़ा पापी हो तो भी ज्ञानरूपी नौकाद्वारा सब पापों को तू पार कर जायगा। ३६

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। ३७

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ३८

ज्ञान के समान इस संसार में और कुछ पवित्र नहीं है। योग में—समत्व में—पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने-आपमें उस ज्ञान को पाता है। ३८

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ३९

श्रद्धावान, ईश्वरपरायण, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरन्त परम शान्ति पाता है। ३९

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ४०

जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है । संशयवान के लिए न तो यह लोक है, और न परलोक; उसे कहीं सुख नहीं है । ४०

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

जिसने समत्वरूपी योग द्वारा कर्मों का अर्थात् कर्मफल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा संशय को छेद डाला है वैसे आत्मदर्शी को, हे धनञ्जय ! कर्म बन्धनरूप नहीं होते । ४१

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

इसलिए हे भारत ! हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को आत्मज्ञानरूपी तलवार से नाश करके योग—समत्व धारण करके खड़ा हो । ४२

ॐ तत्सत

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का ज्ञानकर्म-संन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

[५]

कर्मसंन्यासयोग

[सोमप्रभात

[अर्जुन कहता है:—"आप ज्ञान को अधिक बताते हैं, इससे मैं यह समझता हूँ कि कार्य करने की ज़रूरत नहीं, संन्यास ही अच्छा है। पर साथ ही कर्म की भी स्तुति करते हैं, इससे ऐसा लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दो में अधिक अच्छा क्या है, मुझे निश्चयपूर्वक कहिए, तो कुछ शान्ति मिले।"

यह सुन भगवान बोले:—"संन्यास अर्थात् ज्ञान और और कर्म अर्थात् निष्काम कर्म। ये दोनों अच्छे हैं। पर यदि मुझे चुनना ही पड़े तो मैं कहूँगा कि योग अर्थात् अनासक्ति-पूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य न किसी का या कोई का द्वेष करता है, न किसी प्रकार की इच्छा रखता है, और सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी वग़ैरा द्वन्द्वों से अलग रहता है, वह संन्यासी ही है, फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहज ही बंधन-मुक्त होता है। अज्ञानी ज्ञान और योग को भिन्न मानते हैं। ज्ञानी ऐसा नहीं मानते। दोनों से एक ही परिणाम निकलता है। अर्थात् दोनों से वही स्थान (पद) मिलता है। इसलिए जो दोनों को

एकरूप समझता है, वही सच्चा जानने वाला है। क्योंकि जिसे शुद्ध ज्ञान है, वह संकल्प मात्र से कार्य-सिद्धि पाता है, अर्थात् बाह्य कर्म करने की उसे ज़रूरत नहीं रहती। जब जनक-पुरी जलती थी, तब दूसरों का धर्म आग बुझाने जाने का था। जनक के संकल्प ही से आग बुझाने में मदद मिलती थी, क्योंकि इस कार्य में सेवक उनके साथ थे। यदि वे पानी का घड़ा लेकर दौड़ते तो पूरी-पूरी हानि होती, दूसरे उन का मुँह देखा करते, अपना कर्त्तव्य भूल जाते और भले होते तो हक्के-बक्के होकर जनक की रक्षा करने दौड़ पड़ते। पर, सब जल्दी ही जनक नहीं बन सकते। जनक की स्थिति बहुत दुर्लभ है। करोड़ों में से एकको कई जन्मों की सेवा से वह प्राप्त हो सकती है। इसके प्राप्त होने से कोई विशेष शान्ति मिलती हो, सो भी नहीं। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करने से मनुष्य का संकल्प-बल बढ़ता जाता है, और बाह्य कर्म घटते जाते हैं और सच पूछो तो कह सकते हैं कि इसका उसे पता भी नहीं चलता। वह इसके लिए प्रयत्न भी नहीं करता। वह तो सेवा-कार्य में ही निमग्न रहता है। और ऐसे रहते हुए उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ती है, कि वह सेवा से थकता नज़र ही नहीं आता। इससे आख़िरकार उसके संकल्प में ही सेवा समा जाती है, उस अत्यन्त गति-मान वस्तु की तरह, जो स्थिर-सी प्रतीत होती है। ऐसे मनुष्य के लिए यह कहना स्पष्ट ही अनुचित है, कि वह कुछ नहीं करता। पर साधारणतया ऐसी स्थिति की कल्पना ही की जा सकती है, अनुभव नहीं। इसी कारण मैंने कर्मयोग

को विशेष कहा है। करोड़ों लोग निष्काम कर्म ही से संन्यास का फल पाते हैं। यदि वे संन्यासी बनने जायँ, तो दोनों दीन से जायँ। संन्यासी बनने के प्रयत्न में मिथ्याचारी बनने की पूरी सम्भावना है, और कर्म से तो गिरते ही हैं, जिससे सर्वनाश होता है। पर जो मनुष्य अनासक्ति-पूर्वक कर्म करता हुआ शुद्ध बनता है, जिसने अपने मन को जीता है, जिसने अपनी इन्द्रियों को क़ाबू में रक्खा है, जिसने सब जीवों के साथ अपना ऐक्य साधा है, सबको अपने ही समान मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है, अर्थात् बन्धन में नहीं फँसता। ऐसा मनुष्य बोलने-चालने आदि की क्रियायें करता हुआ भी, ऐसा मालूम होता है, मानो उसकी क्रियायें, इन्द्रियाँ अपने धर्मानुसार करती हैं, वह स्वयं कुछ नहीं करता। शरीर से निरोग, स्वस्थ मनुष्य की क्रियायें स्वाभाविक होती है। उसके जठर आदि अंग अपने आप काम करते हैं। उसे उस ओर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार जिसकी आत्मा आरोग्यवान है, वह शरीर में रहते हुए भी अलिप्त है। यह कह सकते हैं, कि वह कुछ भी नहीं करती। इसलिए मनुष्य को सब कर्म ब्रह्मार्पण करने चाहिएँ, ब्रह्म के निमित्त करने चाहिए, इससे कर्म करता हुआ भी वह पाप पुण्य के वश नहीं रहेगा—पानी में कमल की तरह कोरे-का-कोरा-सूखा ही रहेगा।

[मंगलप्रभात

अर्थात् जिसने अनासक्ति सीखी है, वह योगी काया से, मन से, बुद्धि से कार्य करता हुआ भी, संग-रहित होकर

अहंभाव छोड़कर बरतता और शुद्ध बनता है, शान्ति पाता है। दूसरा अ-योगी परिणाम में आसक्त रहने से क़ैदी की तरह अपनी कामनाओं से बँधा रहता है। इन नौ दरवाज़ों वाले देहरूपी नगर में सब कर्मों का मन से त्याग करके स्वयं कुछ नहीं करता-कराता। इस भाँति योगी सुख से रहता है। संस्कारी, संशुद्ध आत्मा पाप करती है न पुण्य। जिसने कर्म में से आसक्ति को हटा लिया है, अहंभाव का नाश किया है, फल का त्याग किया है, वह जड़वत् होकर काम करता है, निमित्त मात्र बनता है, उसे पाप-पुण्य का स्पर्श कैसे हो सकता है? इसके विपरीत जो अज्ञान में फँसे पड़े हैं, वे रोज़ गिनती करते हैं, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया, ऐसा करते हुए वे रोज़ गड्ढे में गिरते जाते हैं। और आख़िर उनके हिस्से पाप ही रह जाता है। पर जो ज्ञान द्वारा प्रति दिन अपने अज्ञान का नाश करता जाता है, उसके कार्य में दिनोंदिन निर्मलता बढ़ती जाती है। जगत् उसके कर्मों में पूर्णता और पुण्यता देखता है। ऐसे मनुष्य के सब कर्म स्वाभाविक पाये जाते हैं। ऐसा मनुष्य समदर्शी होता है, उसकी दृष्टि में विद्या और विनय वाला, ब्रह्म को जानने-वाला ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन पशु से भी बदतर, गया बीता-मनुष्य आदि सब समान हैं, अर्थात् वह इन सबकी समान भाव से सेवा करेगा, एक को बड़ा मानकर उसकी इज़्ज़त और दूसरे को तुच्छ समझकर उसकी अवगणना न करेगा। अनासक्त, अपनेको सबका क़र्ज़दार मानेगा, सबका क़र्ज़ चुकायेगा और पूर्ण न्याय करेगा। ऐसे

मनुष्य ने यहाँ जगत् को जीत लिया है, और वह ब्रह्ममय है। कोई उसका भला करे तो खुश नहीं होता, कोई गाली दे तो रंज नहीं करता। आसक्तिवाला बाहर से अपने लिए सुख खोजता है। अनासक्त को निरन्तर अन्तर में से शान्ति मिलती है, क्योंकि उसने बाहर से जीव को हटा लिया है। इन्द्रिय-जन्य भोग-मात्र दुःख के कारण हैं। मनुष्य को काम-क्रोध इत्यादि से होनेवाले उपद्रव सह लेना उचित है। अनासक्त योगी समस्त प्राणियों के हित में ही लगे रहते हैं। वे शंकाओं से पीड़ित नहीं रहते। ऐसा योगी बाह्य-जगत् से निराला रहता है—प्राणायामादि के प्रयोग करके अन्तर्ध्यान बनने को छटपटाता है और इच्छा, भय, क्रोध आदि से दूर रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्र और यज्ञादि का भोक्ता-स्वरूप जानता है, और शान्ति प्राप्त करता है।"]

[यरवदा मन्दिर ८,९-१२-३०

[५]

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कर्मयोग के बिना कर्मसंन्यास हो ही नहीं सकता और वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

अर्जुन उवाच

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण! कर्मों के त्याग की और फिर कर्मों के योग की आप स्तुति करते हैं। इन दोनों में श्रेयस्कर क्या है यह मुझे ठीक निश्चयपूर्वक कहिए। १

श्री भगवानुवाच

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान बोले—

कर्मों का त्याग और योग दोनों मोक्ष देनेवाले हैं। उनमें भी कर्मसंन्यास से कर्मयोग बढ़कर है। २

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ३॥

जो मनुष्य द्वेष और इच्छा नहीं करता उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए। जो सुख-दुःखादि द्वन्द्व से मुक्त है, वह सहज में बन्धनों से छूट जाता है। ३

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि संन्यास का ख़ास लक्षण कर्म का त्याग नहीं है, वरन् द्वन्द्वातीत होना ही है। एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी संन्यासी हो सकता है, दूसरा कर्म करते हुए भी मिथ्याचारी हो सकता है। देखो अध्याय ३, श्लोक ६।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—यह दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पण्डित नहीं कहते। एक में अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनों का फल पाता है। ४

टिप्पणी—ज्ञानयोगी लोक संग्रह रूपी कर्मयोग का विशेष फल संकल्प मात्र से प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्ति के कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगी की शान्ति अनायास ही भोग करता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो स्थान सांख्यमार्गी पाता है वही योगी भी पाता है । जो सांख्य और योग को एक-रूप देखता है वही सच्चा देखनेवाला है । ५

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो ! कर्मयोग के बिना कर्मत्याग कष्ट-साध्य है, परन्तु समत्ववाला मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है । ६

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जिसने योग साधा है, जिसने हृदय को विशुद्ध किया है, जिसने मन और इन्द्रियों को जीता है और जो भूतमात्र को अपने जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है । ७

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्८

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, साँस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, आँख खोलते

मूँदते, तत्त्वज्ञ योगी ऐसी भावना रखकर कि केवल इन्द्रियाँ ही अपना काम करती हैं यह समझे कि 'मैं कुछ करता ही नहीं।' ८-९

टिप्पणी—जबतक अभिमान है, तबतक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं प्राप्त होती। इसलिए विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नहीं सकता कि 'विषयों का मैं नहीं भोग करता, इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं।' ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीता को समझता है, और न धर्म को ही जानता है। इस बात को नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मों को ब्रह्मार्पण करके आसक्ति छोड़कर आचरण करता है, वह पाप से उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानी में रहनेवाला कमल अलिप्त रहता है। १०

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ११

शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी योगीजन आसक्ति-रहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। ११

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।१२

समतावान् कर्मफल का त्याग करके परमशान्ति पाता है। अस्थिरचित्त कामनायुक्त होने के कारण फल में फँसकर बन्धन में रहता है १२

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

संयमी पुरुष मन से सब कर्मों का त्याग करके नवद्वारवाले नगररूपी शरीर में रहते हुए भी कुछ न करता न कराता हुआ सुखसे रहता है। १३

टिप्पणी—दो नाक, दो, कान, दो आँखें, मल त्याग के दो स्थान और मुख शरीर के ये नौ मुख्य द्वार हैं। वैसे तो त्वचा के असंख्य छिद्रमात्र दरवाजे ही हैं। इन दरवाजों का चौकीदार यदि इनमें आने-जानेवाले अधिकारियों को ही आने-जाने देकर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह यह आवा-जाही होते रहने पर भी, उसका हिस्सेदार नहीं, बल्कि केवल साक्षी है, इससे वह न करता है, न कराता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

जगत् का प्रभु न कर्तापन रचता है, न कर्म रचता है; न कर्म और फल का मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। १४

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है। कर्म का नियम अटल और अनिवार्य है। और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पड़ता है। इसीमें ईश्वर की बड़ी दया और उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्याय में शुद्ध दया है। न्याय का विरोध करनेवाली दया, दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है। इससे उसके लिए तो दया—क्षमा ही न्याय है। वह स्वयं निरन्तर न्याय-पात्र होकर क्षमा का याचक है। वह दूसरे का न्याय क्षमा से ही चुका सकता है। क्षमा के गुण का विकास करने पर ही अन्तमें अकर्ता—योगी—समतावान—कर्म में कुशल बन सकता है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को अपने ऊपर नहीं ओढ़ता। अज्ञान द्वारा ज्ञान ढक जाने से लोग मोह में फँस जाते हैं। १५

टिप्पणी—अज्ञान से, 'मैं करता हूँ' इस वृत्ति से मनुष्य कर्म-बन्धन बांधता है। फिर भी वह भले-बुरे फल का आरोप ईश्वर पर करता है, यह मोहजाल है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

परन्तु जिनके अज्ञान का आत्मज्ञान द्वारा नाश हो गया है, उनका वह सूर्य के समान, प्रकाशमय ज्ञान परमतत्त्व का दर्शन कराता है। १६

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गये हैं वे, ईश्वर का ध्यान धरनेवाले, तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहनेवाले, उसीको सर्वस्व माननेवाले लोग मोक्ष पाते हैं । १७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः १८

विद्वान् और विनयी ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में कुत्ते में और कुत्ते को खानेवाले मनुष्य में ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं । १८

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं । ब्राह्मण और चाण्डाल के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण को सांप काटने पर उसके घाव को जैसे ज्ञानी प्रेम-भाव से चूसकर उसका विष दूर करने का प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चाण्डाल को भी सांप काटने पर करेगा ।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः १९

जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है, उन्होंने इस देह में रहते ही संसार को जीत लिया

है। ब्रह्म निष्कलङ्क और समभावी है। इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थिर हुए हैं। १९

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिन्तन करता है, वैसा हो जाता है। इसलिए समत्व का चिन्तन करके, दोष रहित होकर, समत्व की मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्म को पाता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्म को जानता है और जो ब्रह्म परायण रहता है वह प्रिय को पाकर सुख नहीं मानता और अप्रिय को पाकर दुःख नहीं मानता। २०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

बाह्य विषयों में आसक्ति न रखनेवाला पुरुष अपने अन्तःकरण में जो आनन्द भोगता है वह अक्षय आनन्द पूर्वोक्त ब्रह्मपरायण पुरुष अनुभव करता है। २१

टिप्पणी—जो अन्तर्मुख हुआ है वही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनन्द पाता है। विषयों से निवृत्ति रहकर कर्म करना और ब्रह्मसमाधि में रमण करना ये दोनों भिन्न

वस्तुयें नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तु को देखने की, दो दृष्टियाँ हैं—एक ही सिक्के की दो पीठें हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

विषय जनित भोग अवश्य ही दुःखों के कारण हैं। हे कौन्तेय! वे आदि और अन्तवाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें मन नहीं लगाता। २२

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

देहान्त के पहले जो मनुष्य इस देह से ही काम और क्रोध के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्त करता है उस मनुष्य ने समत्व को पाया है, वह सुखी है। २३

टिप्पणी—मरे हुए शरीर को जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता सुख-दुःख नहीं होता, उसी तरह जो जीवित रहते भी मुर्दे के समान —जड़ भरत की भाँति देहातीत रह सकता है वह इस संसार में विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुख को जानता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जिसको आन्तरिक आनन्द है, जिसके हृदय में

शान्ति है, जिसे अवश्य अन्तर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्मनिर्वाण पाता है। २४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी शंकायें शान्त हो गई हैं, जिन्होंने मन पर अधिकार कर लिया है और जो प्राणी-मात्र के हित में ही लगे रहते हैं ऐसे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण पाते हैं। २५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जो अपनेको पहचानते हैं, जिन्होंने काम-क्रोध को जीता है और जिन्होंने मन को वश किया है ऐसे यतियों को सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण ही है। २६

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ २७

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८

बाह्य विषय-भोगों का बहिष्कार करके, दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, नासिका द्वारा आने-जानेवाले प्राण और अपान वायु की गति एक-समान

रखकर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्ष में परायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

टिप्पणी—प्राणवायु अन्दर से बाहर निकलने वाला और अपान बाहर से अन्दर जानेवाला वायु है। इन श्लोकों में प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं का समर्थन है। प्राणायाम आदि तो बाह्य क्रियायें हैं और उनका प्रभाव शरीर को स्वस्थ रखने और परमात्मा के रहने योग्य मन्दिर बनाने तक ही परिमित है। भोगी का साधारण व्यायाम आदि से जो काम निकलता, है वही योगी का प्राणायाम आदि से निकलता है भोगी के व्यायाम आदि उसकी इंद्रियों को उत्तेजित करने में सहायता पहुंचाते हैं। प्राणायामादि योगी के शरीर को निरोगी और कठिन बनाने पर भी, इन्द्रियों को शान्त रखने में सहायता करते हैं। आजकल प्राणायामादि की विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमें भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते हैं। जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर अधिक नहीं तो प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्ष की उत्कट अभिलाषा है, जिसने रागद्वेषादि को जीत कर भय को छोड़ दिया है, उसे प्राणायामादि उपयोगी और सहायक होते हैं। अन्तःशौचरहित प्राणायामादि बन्धन का एक साधन बनकर मनुष्य को मोह-कूप में अधिक नीचे ले जा सकते हैं —ले जाते हैं—ऐसा बहुतों का अनुभव है। इससे योगीन्द्र पतञ्जलि ने यम-नियम को प्रथमस्थान देकर उसके साधक के लिए ही मोक्ष-मार्ग में प्राणायामादि को सहायक माना है।

यम पांच हैं :—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम पांच हैं :—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषद् सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

यज्ञ और तप के भोक्ता सर्व लोक के महेश्वर और भूत-मात्र के हित करनेवाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शान्ति प्राप्त करता है। २९

टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्याय के चौदहवें, पन्द्रहवें, तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकों का यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्व-शक्तिमान होते हुए कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्य की भाषा से अतीत है। इससे उसमें परस्पर विरोधी गुणों और शक्तियों का भी आरोपण करके, मनुष्य उसकी झाँकी की आशा रखता है।

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[६]

ध्यानयोग

[मंगलप्रभात

[श्री भगवान् कहते हैं—"कर्मफल को छोड़कर जो मनुष्य कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी भी कहलाता है और योगी भी। जो क्रियामात्र का त्याग कर बैठता है, वह आलसी है। सच बात तो मन के घोड़े दौड़ाने का काम छोड़ने की है। जो योग अर्थात् समत्व साधना चाहता है, विना कर्म के उसका काम चलता ही नहीं। जिसे समत्व प्राप्त हुआ है, वह शान्त देख पड़ेगा अर्थात् उसके विचारमात्र में कर्म का बल प्राप्त होजाता है। जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता और मन की तमाम तरंगों को छोड़ देता है, तब यह कहा जाता है कि उसने योग साधा है,—वह योगारुढ़ है।

आत्मा का उद्धार आत्मा द्वारा ही होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि (वह) स्वयं ही अपना शत्रु बनता है, या मित्र बनता है। जिसने मन को जीता है, आत्मा उसका मित्र बनता है; जिसने मन को नहीं जीता आत्मा उसका शत्रु है। जिसने मन को जीता है उसकी पहचान यह है कि उसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान, सब एक समान होते हैं। जिसे ज्ञान है, अनुभव

है, जो अविचल है, जिसने इन्द्रियों पर विजय पाई है, और जिसे सोना, मिट्टी या पत्थर सब समान हैं, वह योगी है। ऐसा मनुष्य शत्रु-मित्र, साधु-असाधु आदि के प्रति समभाव रखता है। इस स्थिति को पहुँचने के लिए मन स्थिर करना चाहिए, वासनाओं का त्याग करना चाहिए, और एकान्त में बैठ कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। केवल आसनादि करना ही बस नहीं। समत्व को पहुँचने की इच्छावाले को ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों का भली-भांति पालन करना चाहिए। यों, आसनबद्ध होकर यम-नियमों का पालन करने वाला मनुष्य जब अपना मन परमात्मा में स्थिर करता है, तो उसे परम-शान्ति मिलती है।

यह समत्व अघोरी की तरह खानेवाले को तो नहीं ही मिलता। पर निरा उपवास करनेवाले को भी नहीं मिलता न बहुत सोनेवाले को मिलता है, न जागरण करनेवाले को ही। समत्व पाने के इच्छुक को तो सब में खाने में, पीने में, सोने में, जागने में भी नियम का ध्यान रखना चाहिए। एक दिन खूब खाना और दूसरे दिन उपवास करना, एक दिन खूब सोकर दूसरे दिन जागरण करना, एक दिन खूब काम करके दूसरा दिन आलस में बिताना, यह योग की निशानी ही नहीं है। योगी तो सदा स्थिर-चित्त होता है और कामना मात्र का स्वभाव से त्याग किये हुए होता है। ऐसे योगी की स्थिति वायु-हीन स्थान में दीपक जैसे स्थिर रहता है वैसी ही (स्थिर) होती है। उसे जगत के मंच पर होनेवाले खेल या उसके मन में चक्कर

काटनेवाली विचार तरंगें इधर-उधर झकझोर नहीं सकती, डिगा नहीं सकती। यह योग धीरे-धीरे, पर दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करने से साधा जा सकता है। मन चंचल है, इस-लिए वह इधर-उधर दौड़ता है। उसे धीरे धीरे स्थिर करना उचित है। वह स्थिर हो, तो शान्ति मिले। मन को इस प्रकार स्थिर करने के लिए निरन्तर-आत्म चिन्तन करना चाहिए। ऐसा मनुष्य सब जीवों को अपने में देखता है, और अपनेको सबमें देखता है। क्योंकि वह मुझको सब में और सबको मुझमें देखता है। जो मुझमें लीन हुआ है, वह मुझे सर्वत्र देखता है। वह आप मिट चुका है, इसलिए चाहे जो करता हुआ भी वह मुझमें ही तल्लीन रहता है, इसलिए उसके हाथों न करने योग्य कोई भी काम कभी होगा ही नहीं।"

अर्जुन को यह योग कठिन प्रतीत हुआ और वह बोल उठा—"यह आत्म स्थिरता कैसे प्राप्त हो—मन तो बन्दर की भाँति है। अगर हवा दबाई जा सकती है, तो मन भी दबाया जा सकता है। ऐसा यह मन कैसे और कब क़ाबू में आवेगा?"

भगवान् ने जवाब में कहा—"तू जो कहता है, वह सच है। पर रागद्वेष को जीतने से और प्रयत्न करने से कठिन सरल बनाया जा सकता है। मन को जीते बिना योग नहीं सध सकता, इसमें शक नहीं।"

इसपर अर्जुन फिर पूछते हैं—"मान लीजिए कि मनुष्य में श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मन्द है, इसलिए वह सफल

नहीं होता। ऐसे मनुष्य की क्या गति होती है ? बिखरे हुए बादलों की तरह उसका नाश तो नहीं होता ?"

भगवान् ने कहा—"ऐसे श्रद्धालु का नाश होता ही नहीं। कल्याण मार्गपर चलने वालों की अधोगति कभी नहीं होती। ऐसा मनुष्य मृत्यु के बाद कर्मानुसार पुण्य लोक में रह कर पुनः पृथ्वी पर आता है और पवित्र घर में जन्म लेता है। इस लोक में ऐसा जन्म दुर्लभ है। उस घर में उसके पूर्व के शुभ संस्कारों का उदय होता है। इसप्रकार का उसका प्रयत्न तीव्र बनता है, और अन्त में वह सिद्धि पाता है। इस प्रकार प्रयत्न करते हुए कोई अनेक जन्मों के बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्न के बलानुसार समत्व पाता है। तप, ज्ञान कर्मकांड की क्रिया, इन सबसे समत्व अधिक है, क्योंकि तप आदि का परिणाम भी तो आखिर समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समता प्राप्त कर और योगी बन। इनमें भी जो अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर देते हैं और मेरी ही आराधना करते हैं, उन्हें तू श्रेष्ठ समझ।"

टिप्पणी—

इस अध्याय में प्राणायाम आसन आदि की स्तुति है। पर याद रहे कि इनके साथ ही ब्रह्मचर्य की अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के लिए यह यम-नियम आदि के पालन की आवश्यकता भी भगवान् ने बताई है। यह समझ लेना ज़रूरी है कि अकेले आसनादि की क्रिया से समत्व प्राप्ति नहीं होती। आसन, प्रणायाम आदि मन को स्थिर करने में—एकाग्र

करने में थोड़ी मदद करते हैं, यदि इस हेतु से ये क्रियायें की जायँ तो। अन्यथा इसे भी एक प्रकारका शारीरिक व्यायाम समझ कर अन्य व्यायामों की भाँति ही इसका मूल्य आंकना चाहिए'। शारीरिक व्यायाम के रूप में प्राणायामादि बहुत उपयोगी हैं, और मैं मानता हू कि व्यायामों में यह व्यायाम सात्त्विक है। शारीरिक दृष्टि से यह अभ्यास करने योग्य है। परन्तु इनसे सिद्धियाँ प्राप्त करने और चमत्कार देखने के लिए ये क्रियायें की जाती है। मैंने देखा है कि इससे लाभ के बदले हानि होती है। यह अध्याय तीसरे चौथे और पाँचवें अध्याय के उपसंहार रूप में समझने योग्य है। और प्रयत्न-शील को आश्वासन देता है। हम हार कर समता पाने के प्रयत्न को कभी न छोड़ें।"]

[यरवडा मन्दिर, १६-१२-३०

[६]

इस अध्याय में योग साधन के—समत्व प्राप्त करने के-कितने ही साधन बतलाये गये हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

कर्मफल का आश्रय किये विना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है; जो अग्नि को और कुल क्रियाओं को छोड़ करके बैठ जाता है वह नहीं। १

टिप्पणी—अग्नि से तात्पर्य हैं सारे साधन। जब अग्नि के द्वारा होम होते थे तब अग्नि की आवश्यकता थी। मान लीजिए इस युग में चरखा सेवा का साधन है तो उसका त्याग करने से संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव ! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। जिसने मन के संकल्पों को त्यागा नहीं वह कभी योगी नहीं हो सकता। २

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग साधनेवाले को कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शान्ति साधन है ३

टिप्पणी—जिसकी आत्म-शुद्धि हो गई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है। इसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढ़ को लोकसंग्रह के लिए भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। लोकसंग्रह के बिना तो वह जी ही नहीं सकता। सेवा-कर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है। वह दिखावे के लिए कुछ नहीं करता। अध्याय ३–४, अध्याय ५–२ से मिलाइए।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है। ४

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

आत्मा से मनुष्य आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है; और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। ५

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

उसीका आत्मा बन्धु है जिसने अपने बल से मन को जीता है; जिसने आत्मा को जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रु का-सा बर्ताव करता है। ६

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने अपना मन जीता है और जो सम्पूर्ण रूप से शान्त हो गया है उसकी आत्मा सरदी-गरमी, सुख-दुःख और मान-अपमान में एक सरीखा रहता है। ७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसे मिट्टी, पत्थर और सोना समान है ऐसा ईश्वर-परायण मनुष्य योगी कहलाता है। ८

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती दोनों का भला चाहनेवाला; द्वेषी, बन्धु और साधु तथा पापी इन सब में जो समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ है। ९

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

चित्त स्थिर करके वासना और संग्रह का त्याग करके, अकेला एकान्त में रह कर योगी निरन्तर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़े। १०

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ११
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

पवित्र स्थान में अपने लिए कुश, मृगचर्म और वस्त्र एक-पर-एक बिछाकर न बहुत नीचा न बहुत ऊँचा स्थिर आसन करे। उस पर एकाग्र मन से बैठकर चित्त और इन्द्रियों को वश करके आत्मशुद्धि के लिए योग साधे। ११-१२

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

धड़, गर्दन और सिर एक सीध में अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ अपने नासिकाग्र पर निगाह रखकर पूर्ण शान्ति से, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहकर, मन को मार कर मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे। १३-१४

टिप्पणी—नासिकाग्र से मतलब है भृकुटी के बीच का भाग। देखो अध्याय ५-२७। ब्रह्मचारी व्रत का अर्थ केवल वीर्यसंग्रह ही नहीं है, साथ ही ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार जिसका मन नियम में है, ऐसा योगी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ता है और मेरी प्राप्ति में मिलनेवाली मोक्षरूपी परम शान्ति प्राप्त करता है। १५

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है ठूँस-ठूँसकर खानेवाले को, न होता है कोरे उपवासी को, वैसे ही वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवाले को प्राप्त नहीं होता । १६

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कर्मों में सोने-जागने में परिमित रहता है उसका योग दुःख-भञ्जन हो जाता है । १७

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

भलीभाँति नियमबद्ध मन जब आत्मा में स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओं में निस्पृह हो बैठता है तब वह योगी कहलाता है । १८

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का उद्योग

करनेवाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वायुरहित स्थान में अचल रहनेवाले दीपक की-सी कही गई है। १९

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते २२

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा २३

योग के सेवन से अङ्कुश में आया हुआ मन जहाँ शान्ति पाता है, आत्मा से ही आत्मा को पहचानकर आत्मा में जहाँ मनुष्य सन्तोष पाता है और इन्द्रियों से परे और बुद्धि से ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख का जहाँ अनुभव होता है, जहाँ रह कर मनुष्य मूल वस्तु से चलायमान नहीं होता और जिसे पाने पर उससे दूसरे किसी लाभ को वह अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःख से भी डग-

भगाता नहीं, उस दुःख के प्रसंग से रहित स्थिति का नाम योग की स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढ़तापूर्वक साधने योग्य है। २०-२१-२२-२३

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् २५

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओं का पूर्णरूप से त्याग करके, मन से ही इन्द्रियसमूह को सब ओर से भलीभांति नियम में लाकर, अचल बुद्धि से योगी धीरे-धीरे शान्त होता जाय और मन को आत्मा में पिरोकर, और कुछ न सोचे। २४-२५

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

जहाँ-जहाँ चञ्चल और स्थिर मन भागे वहाँ-वहाँ से (योगी) उसे नियम में लाकर अपने वश में लावे। २६

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन भलीभाँति शान्त हुआ है, जिसके विकार शान्त हो गये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है। २७

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

आत्मा के साथ निरन्तर अनुसन्धान करता हुआ पापरहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्मप्राप्ति रूप अनन्त सुख का अनुभव करता है। २८

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है। २९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।३०

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझ में देखता है, वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। ३०

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

मुझ में लीन हुआ जो योगी भूतमात्र में रहने-वाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह वर्तता हुआ भी मुझ में ही वर्तता है। ३१

टिप्पणी—'आप' जब-तक हैं, तब-तक तो परमात्मा 'पर' है। 'आप' मिट जाने पर, शून्य होने पर ही एक परमात्मा को सर्वत्र देखता है। और अध्याय १६–२३ की टिप्पणी देखिए।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।३२।

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख दोनों को समान समझता है वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ३२

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ३३

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! यह (समत्वरूपी) योग जो आपने कहा उसकी स्थिरता मैं चञ्चलता के कारण नहीं देख पाता। ३३

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

क्योंकि हे कृष्ण ! मन चञ्चल ही है, मनुष्य को मथ डालता है और बहुत बलवान है। जैसे वायु को दबाना बहुत कठिन है वैसे मन का वश करना भी मैं कठिन मानता हूँ। ३४

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान् बोले—

हे महाबाहो ! सच है, मन चञ्चल होने के कारण वश करना कठिन है। पर हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह वश किया जा सकता है। ३५

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ३६

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वश नहीं है, उसके लिए योगसाधना बहुत कठिन है; पर जिसका मन अपने वश में है और जो यत्नवान् है वह उपाय द्वारा साध सकता है। ३६

अर्जुनउवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ३७॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण! जो श्रद्धावान् तो है पर यत्न में मन्द होने के कारण योगभ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न पाकर कौन गति पाता है? ३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो! योग से भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्ग में भटका हुआ, वह छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति उभय भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता? ३८

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण! मेरे इस संशय को आप दूर करने योग्य हैं। आपके सिवा दूसरा कोई इस संशय को दूर करनेवाला नहीं मिल सकता। ३९

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ! ऐसे मनुष्यों का नाश न तो इस लोक में होता है न परलोक में। हे तात! कल्याण-मार्ग में जानेवाले की कभी दुर्गति होती ही नहीं। ४०

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

जिस स्थान को पुण्यशाली लोग पाते हैं उसको पाकर, वहाँ बहुत समय तक रहने पर योग-भ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन वाले के घर जन्म लेता है। ४१

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

या ज्ञानवान योगी के ही कुल में वह जन्म लेता है। संसार में ऐसा जन्म अवश्य बहुत दुर्लभ है। ४२

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन ! वहाँ उसे पूर्व जन्म के बुद्धि-संस्कार मिलते हैं और वहाँ से वह मोक्ष के लिए आगे बढ़ता है। ४३

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह अवश्य योग की ओर खिंचता है। योग का जिज्ञासु भी सकाम

वैदिक कर्म करनेवाले की स्थिति को पार कर जाता है। ४४

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी पाप से छूट कर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परमगति को पाता है। ४५

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।४६॥

तपस्वी से योगी अधिक है; ज्ञानी से भी वह अधिक माना जाता है, वैसे ही कर्मकाण्डी से भी वह अधिक है; इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन। ४६

टिप्पणी—यहाँ तपस्वी की तपस्या फलेच्छायुक्त है। ज्ञानी से मतलब अनुभवज्ञानी नहीं है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सब योगियों में भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है। ४७

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-
विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ध्यान योगो नाम षष्ठोऽध्याय: ।६।

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गतयोग शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का ध्यान-योग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

[७]

ज्ञानविज्ञानयोग

[मंगल प्रभात

[भगवान् बोले—हे राजन्, मुझमें मन लगाकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोग का आचरण करनेवाला मनुष्य निश्चय-पूर्वक सम्पूर्ण रूप से मुझे किस तरह पहचान सकता है, यह मैं तुझे कहूँगा। यह अनुभवयुक्त ज्ञान मैं तुझे कहूँगा, उसके बाद और जानने को बाक़ी न रहेगा। हज़ारों में विरले ही इसे पाने का प्रयत्न करते हैं, और प्रयत्न करने वालों में विरले ही सफल होते हैं।

पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और 'अहं भाव', ऐसी आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति कहलाती और दूसरी परा प्रकृति है। यह जीव-रूप है। इन दो प्रकृतियों से, अर्थात् देह और जीव के सम्बन्ध से, जगत् बना है। इसलिए सबकी उत्पत्ति और नाश का कारण मैं हूँ। यह जगत् मेरे आधार पर टिका हुआ है। अर्थात् पानी में रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्र का तेज मैं हूँ, वेदों का ओंकार मैं हूँ, आकाश की आवाज़ मैं हूँ, पुरुषों का पराक्रम हूँ, मिट्टी की सुगन्ध हूँ, अग्नि का तेज हूँ, प्राणी मात्र का जीवन हूँ, तपस्वी का तप हूँ, बुद्धिमान

की बुद्धि हूँ, बलवान का शुद्ध बल हूँ, जीवमात्र में विद्यमान धर्म की अविरोधिनी कामना मैं हूँ, संक्षेप में, सत्त्व, रजस् और तमस् से उत्पन्न होनेवाले जो-जो भाव हैं, उन सबको मुझ से ही उत्पन्न हुए जान। और ये सब मेरे आधार पर ही रह सकते हैं। इन तीन भावों या गुणों में आसक्त रहनेवाले लोग मुझ अविनाशी को पहचान नहीं सकते, ऐसी यह मेरी त्रिगुणात्मक माया है; इससे पार हो जाना क़ठिन है। पर जो मेरी शरण में आते हैं वे इस माया को, अर्थात् तीन गुणों को, पार कर सकते हैं।

परन्तु जिनके आचार-विचार का ठिकाना नहीं है वे मूढ़ लोग मेरी शरण क्यों लेने लगे? वे तो माया में पड़े रह कर अंधेरे में ही भटका करते हैं और ज्ञान नहीं पाते। परन्तु अच्छे आचारवाले मुझे भजते हैं। इनमें से कोई अपना दुःख मिटाने को मेरा भजन करते हैं और कोई मुझे पहचानने की इच्छा से भजते हैं। मेरा भजन करना अर्थात् मेरे जगत् की सेवा करना है। इनमें कोई दुःख के मारे, कोई कुछ लाभ की आशा से, कोई यह समझकर कि चलो देखें तो क्या होता है, सेवा करते हैं, और कोई ज्ञानपूर्वक, उसके बिना रह ही नहीं सकते, इसलिए सेवा-परायण रहते हैं। ये आखिरवाले मेरे ज्ञानी भक्त हैं और सबसे अधिक प्रिय हैं, या यों कहो कि ये मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं और (मेरे) नज़दीक-से-नज़दीक हैं। मनुष्य को यह ज्ञान अनेक जन्मों के बाद ही प्राप्त होता है, और प्राप्ति के बाद वह इस जगत् में मुझ वासुदेव के सिवा और कुछ देखता ही

नहीं । पर जो कामना वाले हैं, वे तो जुदा-जुदा देवताओं को भजते हैं, और जैसी जिसकी भक्ति है, तदनुसार फल देनेवाला तो मैं ही हूँ । ऐसी कम समझवालों को जो फल मिलता है, वह भी ऐसा ही कम होता है, और उन्हें सन्तोष भी उतने में हो जाता है । अपनी अल्प-बुद्धि के कारण ऐसे लोग यह मनाते हैं कि वे इन्द्रियों द्वारा मुझे पहचान सकते हैं । वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इन्द्रियों से परे है, और हाथ कान, नाक, आँख, आदि द्वारा नहीं पहचाना जा सकता । इस प्रकार सब वस्तुओं का पैदा करनेवाला होते हुए भी अज्ञानी लोग मुझे नहीं पहचान सकते । मेरी इस योगमाया को तू जान ले । राग-द्वेष के कारण सुख-दुःखादि हुआ ही करते हैं, और इसीके जगत् मूर्च्छा में, मोह में, रहता है । पर जो इससे छूटे हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल बने हैं, वे तो अपने व्रत में निश्चल रहकर निरन्तर मुझे ही भजते हैं । वे मेरे पूर्ण ब्रह्मरूप को, सब प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले जीव रूप में विद्यमान मुझे, और मेरे कर्म को जानते हैं । इस प्रकार जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप में जानते हैं और फलतः समत्व को प्राप्त हुए हैं, वे मृत्यु के बाद जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होते हैं; क्योंकि इतना जान चुकने पर उनका मन अन्यत्र भटकता नहीं, और सारे जगत् को ईश्वरमय देखकर वे ईश्वर में ही समा जाते हैं ।]

[यरवदा मंदिर २३-१२-३०

इस अध्याय में यह समझाना आरम्भ किया गया है कि ईश्वरतत्व और ईश्वरभक्ति क्या है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

हे पार्थ! मेरे में मन पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और सम्पूर्ण-रूप से मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन। १

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अनुभवयुक्त यह ज्ञान मैं तुझे पूर्णरूप से कहूँगा। इसे जानने के बाद इस लोक में अधिक कुछ जानने को रह नहीं जाता। २

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में से विरला ही सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धों में से भी विरला ही मुझे वास्तविक रूप से पहचानता है। ३

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव—इस प्रकार आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है। ४

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वोंवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। देखो अध्याय १३, श्लोक, ५ और अध्याय १५, श्लोक १६।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

यह हुई अपरा प्रकृति। इससे भी ऊँची परा प्रकृति है जो जीवनरूप है। हे महाबाहो ! यह जगत् उसके आधार पर चल रहा है। ५

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

भूतमात्र की उत्पत्ति का कारण तू इन दोनों को जान। समूचे जगत् की उत्पत्ति और लय का कारण मैं हूँ। ६

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनञ्जय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागे में मनके पिरोये हुए रहते हैं वैसे यह सब मुझमें पिरोया हुआ है। ७

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कौन्तेय ! जल में रस मैं हूँ; सूर्य-चन्द्र में तेज मैं हूँ; सब वेदों में ॐकार मैं हूँ; आकाश में शब्द मैं हूँ और पुरुषों का पराक्रम मैं हूँ। ८

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथ्वी में सुगन्ध मैं हूँ; अग्नि में तेज मैं हूँ; प्राणीमात्र का जीवन मैं हूँ; तपस्वी का तप मैं हूँ। ९

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ ! समस्त जीवों का सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूँ; तेजस्वी का तेज मैं हूँ। १०

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलवान का काम और रागरहित बल मैं हूँ। और हे भरतर्षभ ! प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम मैं हूँ। ११

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो-जो सात्त्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुए जान। परन्तु मैं उनमें हूँ, ऐसा नहीं है; वे मुझमें हैं। १२

टिप्पणी—इन भावों पर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि वे भाव उसपर निर्भर हैं। उसके आधार पर रहते हैं, और उसके वश में हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन त्रिगुणी भावों से सारा संसार मोहित हो रहा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशी को—वह नहीं पहचानता। १३

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

इस मेरी तीन गुणोंवाली दैवी माया का तरना कठिन है। पर जो मेरी ही शरण लेते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं। १४

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं आते। वे आसुरी भाव वाले होते हैं और माया उनके ज्ञान को हर चुकी होती है। १५

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन! चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्त करने की इच्छावाले और ज्ञानी। १६

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७

इनमेंसे जो नित्य समभावी एकको ही भजनेवाला है वह ज्ञानी श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे प्रिय है। १७

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्१८

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है ऐसा, मेरा मत है। क्योंकि मुझे पाने के सिवा दूसरी अधिक उत्तम गति है ही नहीं, यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है। १८

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९

बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझे पाता है। सब वासुदेवमय है, ऐसा जानने वाला महात्मा बहुत दुर्लभ है। १९.

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अनेक कामनाओं से जिन लोगों का ज्ञान हर लिया गया है, वे अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न विधि का आश्रय लेकर दूसरे देवताओं की शरण जाते हैं। २०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूप की भक्ति श्रद्धापूर्वक करना चाहता है, उस-उस स्वरूप में उसकी श्रद्धा को मैं दृढ़ करता हूँ। २१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् २२

श्रद्धापूर्वक उस स्वरूप की वह आराधना करता है, और उसके द्वारा मेरी निर्मित की हुई और अपनी इच्छित कामनायें पूरी करता है । २२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

उन अल्प बुद्धिवालों को जो फल मिलता है, वह नाशवान होता है । देवताओं को भजनेवाले देवताओं को पाते हैं; मुझे भजने वाले मुझे पाते हैं । २३

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग मुझ इन्द्रियों से अतीत को इन्द्रियगम्य मानते हैं । २४

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५

अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूँ । यह मूढ़ जगत् मुझ अजन्मा और अव्यय को भली-भाँति नहीं पहचानता । २५

टिप्पणी—इस दृश्य जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त रहने के कारण परमात्मा के अदृश्य रहने का जो भाव है वह उसकी योगमाया है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन! जो हो चुके हैं, जो हैं, और जो होने वाले हैं, उन सभी भूतों को मैं जानता हूँ, पर मुझे कोई नहीं जानता। २६

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे भारत! हे परन्तप! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखादि द्वन्द्व के मोह से प्राणी-मात्र इस जगत् में मोहग्रस्त रहते हैं। २७

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पर जिन सदाचारी लोगों के पापों का अन्त हो चुका है और जो द्वन्द्व के मोह से मुक्त हो गये हैं, वे अटल व्रतवाले मुझे भजते हैं। २८

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् २९

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरण से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं वे पूर्णब्रह्म को, अध्यात्म को और अखिल कर्म को जानते हैं। २९

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्होंने पहचाना है, वे समत्व को पहुँचे हुए मुझे मृत्यु के समय भी पहचानते हैं। ३०

टिप्पणी—अधिभूतादिका अर्थ आठवें अध्याय में आता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि इस संसार में ईश्वर के सिवा और कुछ भी नहीं है और समस्त कर्मों का कर्ता-भोक्ता वह है। जो ऐसा समझकर मृत्यु के समय शान्त रह कर ईश्वर में ही तन्मय रहता है और कोई वासना उस समय जिसे नहीं होती उसने ईश्वर को पहचाना है और उसने मोक्ष पाई है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[८]

अक्षरब्रह्मयोग

[सोमप्रभात

[अर्जुन पूछता है—आप पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधि-भूत, अधिदैव, अधियज्ञ के नाम कह गये, पर इन सबका अर्थ मैं नहीं समझा। साथ ही आप कहते हैं, आपको अधिभूतादि रूप में जाननेवाले समत्व को पाये हुए (लोग) मृत्यु के समय आपको पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइए।

भगवान् ने जवाब दिया—जो सर्वोत्तम नाशरहित स्वरूप है, वह पूर्णब्रह्म है; और प्राणीमात्र में कर्ता-भोक्ता रूप से जो देहधारणा किये हुए है, वह अध्यात्म है। प्राणीमात्र की उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है, उसका नाम कर्म है। अर्थात्, यह भी कह सकते हैं कि, जिस क्रिया से उत्पत्तिमात्र होती है, वह कर्म है। अधिभूत अर्थात् मेरा नाशवान देह-स्वरूप और अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ-द्वारा शुद्ध बना हुआ उक्त अध्यात्मस्वरूप। इस प्रकार देहरूप में, मूर्छित जीवरूप में, शुद्ध जीवरूप में और पूर्णब्रह्म-रूप में—सर्वत्र मैं ही हूँ। और ऐसा जो मैं हूँ उसका जो मरते समय ध्यान धरता है, अपनेको भूल जाता है, किसी प्रकार की

चिन्ता नहीं करता, इच्छा नहीं करता, वह मेरे स्वरूप को पाता ही है। इसे निश्चय समझना। मनुष्य जिस स्वरूप का नित्य ध्यान करता है, और अन्तकाल में भी उसीका ध्यान रहे, तो वह उस स्वरूप को पाता है। और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्मरण किया करना, मुझमें ही मन और बुद्धि को पिरोये रखना, तो मुझे ही पायेगा। पर तू यह कहेगा कि इस प्रकार चित्त स्थिर नहीं होता, तो याद रख कि रोज़ के अभ्यास से, प्रतिदिन के प्रयत्न से, ऐसी एकाग्रता मिलती ही है। क्योंकि अभी-अभी ही तुझसे कहा है कि देहधारी भी मूल का विचार करें तो मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्य को पहले ही से तैयारी करनी चाहिए, जिससे मरते समय भी अस्थिर न होवे, भक्ति में लीन रहे, प्राण स्थिर रक्खे, और सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबका पालन करने की शक्ति रखनेवाले, जिसका चिन्तन करते हुए भी जो शीघ्र पहचाना नहीं जा सकता, ऐसे सूर्य-समान अन्धकार-अज्ञान को मिटानेवाले परमात्मा का ही स्मरण करे।

इस परमपद को वेद अक्षर ब्रह्म के नाम से पहचानते हैं। राग-द्वेषादि का त्याग करने वाले मुनि इसे पाते हैं। और इस पद को पाने की इच्छा रखनेवाले सब ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, अर्थात् शरीर, मन, और वाणी को अंकुश में रखते हैं। विषयमात्र का तीनों प्रकार से त्याग करते हैं। इन्द्रियों को समेट कर 'ॐ' का उच्चारण करते हुए, मेरा ही चिन्तन करते-करते जो स्त्री-पुरुष देह छोड़ते हैं, वे परमपद

पाते हैं। ऐसों का चित्त और कहीं भटकता नहीं। और, इस प्रकार मुझे पानेवाले को फिर से वह जन्म पाने की ज़रूरत नहीं रहती, जो दुःख का घर है। इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटने का उपाय मुझे पाना ही है।

मनुष्य अपने सौ वर्ष के जीवनकाल से काल का माप निकालता है और उतने समय में हज़ारों जाल बिछाता है। पर काल तो अनन्त है। यह समझ कि हज़ारों युग ब्रह्मा का एक दिन है। अतएव मनुष्य के एक दिन या सौ वर्ष की क्या बिसात? इतने अल्पकाल की गिनती लगा कर व्यर्थ की हाय-हाय क्यों की जाय? इस अनन्त कालचक्र में मनुष्य का जीवन क्षणमात्र-सा है। इस इतने से समय में ईश्वर का ध्यान करने में ही इसकी शोभा है। क्षणिक भोगों के पीछे वह क्यों दौड़े? ब्रह्मा के रात-दिन में उत्पत्ति और नाश होते ही रहते हैं और होते ही रहेंगे।

उत्पत्ति–लय करने वाला यह ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है, और वह अव्यक्त है। इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। इससे भी परे मेरा एक दूसरा अव्यक्त स्वरूप है। उसका कुछ वर्णन मैंने तेरे सामने किया है। उसे जो पाता है, उसका जन्म-मरण छूट जाता है, क्योंकि उस स्वरूप को दिन-रात आदि-द्वन्द्व नहीं होते, वह केवल शान्त अचल स्वरूप है। उसके दर्शन अनन्य भक्ति से ही हो सकते हैं। उसीके आधार पर सारा जगत् टिका हुआ है। और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

यह कहा जाता है कि उत्तरायण के उजेले पखवाड़े के

दिनों में जो मरता है, वह ऊपर बताये अनुसार स्मरण करते हुए मुझे पाता है। और दक्षिणायन के कृष्णपक्ष की रात में मरने वाले के फेरे बाक़ी रहते हैं। इसका यह अर्थ किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्ल-पक्ष निष्काम सेवा-मार्ग है और दक्षिणायन स्वार्थमार्ग। सेवामार्ग से मुक्ति और स्वार्थ-मार्ग से बन्धन प्राप्त होता है। सेवा-मार्ग ज्ञान-मार्ग है, और स्वार्थ-मार्ग अज्ञान-मार्ग। ज्ञान-मार्ग पर चलनेवाले के लिए मोक्ष है, अज्ञान-मार्ग से जानेवाले के लिए बन्धन। इन दो मार्गों को जान चुकने के बाद मोह में फँस कर अज्ञान-मार्ग को कौन पसन्द करेगा? इतना जान चुकने पर मनुष्यमात्र को समस्त पुण्य-फल छोड़ कर, अनासक्त रह कर, कर्त्तव्य में ही परायण बनकर, मेरे बताये हुए उत्तम स्थान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।]

यरवदा-मन्दिर, २६-१२-३०]

इस अध्याय में ईश्वरतत्त्व विशेषरूप से समझाया गया है।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम ! इस ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? अधिदैव क्या कहलाता है ? १

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है ? और संयमी आपको मृत्यु के समय किस तरह पहचान सकता है ? २

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्रीभगवान बोले—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है; प्राणीमात्र में अपनी सत्तासे जो रहता है वह अध्यात्म है; और प्राणीमात्र को उत्पन्न करनेवाला सृष्टि-व्यापार कर्म कहलाता है। ३

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है। अधिदैवत उसमें रहनेवाला मेरा जीवस्वरूप है। और हे मनुष्यश्रेष्ठ! अधियज्ञ इस शरीर में स्थित किन्तु यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप है। ४

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्म से लेकर नाशवान दृश्य पदार्थमात्र परमात्मा ही हैं, और सब उसीकी कृति हैं। तब फिर मनुष्यप्राणी स्वयं कर्तापन का अभिमान रखने के बदले परमात्मा का दास बनकर सब-कुछ उसे समर्पण क्यों न करे?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्तकाल में मुझे ही स्मरण करते-करते जो देह त्याग करता है वह मेरे स्वरूप को पाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ५

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अथवा तो हे कौन्तेय ! नित्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान मनुष्य धरता है, उस--उस स्वरूप को अन्तकाल में भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस स्वरूप को पाता है । ६

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिए सदा मुझे स्मरण कर और जूझता रह; इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखने से अवश्य मुझे पावेगा । ७

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ ! चित्त को अभ्यास से स्थिर करके और कहीं न भागने देकर जो एकाग्र होता है वह दिव्य परमपुरुष को पाता है । ८

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो मनुष्य अचल मन से, भक्ति से सराबोर होकर और योगबल से भृकुटी के बीच में अच्छी तरह प्राण को स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्मतम, सबके पालनहार, अचिन्त्य, सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अन्धकार से पर स्वरूप का ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परमपुरुष को पाता है। ९-१०

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

जिसे वेद जाननेवाले अक्षर नाम से वर्णन करते हैं, जिसमें वीतरागी मुनि प्रवेश करते हैं, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस पद का संक्षेप में वर्णन मैं तुझ से करूँगा। ११

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो योगधारणाम् ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

इन्द्रियों के सब द्वारों को रोक कर, मन को हृदय में ठहरा कर, मस्तक में प्राण को धारण करके, समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्म का उच्चारण और मेरा चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परमगति को पाता है । १२-१३

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः १४॥

हे पार्थ ! चित्त को अन्यत्र कहीं रक्खे बिना जो नित्य और निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहज में पाता है । १४

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

मुझे पाने पर परमगति को पहुँचे हुए महात्मा दुःख के घर अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं पाते । १५

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे कौन्तेय ! ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक फिर-फिर आने वाले हैं । परन्तु मुझे पाने के बाद मनुष्य को फिर जन्म नहीं लेना होता । १६

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

हजार युग तक का ब्रह्मा का एक दिन और हजार युग तक की ब्रह्मा की एक रात जो जानते हैं वे रात-दिन के जाननेवाले हैं । १७

टिप्पणी—तात्पर्य, हमारे चौबीस घण्टे के रात-दिन कालचक्र के अन्दर एक क्षण से भी सूक्ष्म हैं, उनकी कोई कीमत नहीं है । इसलिए उतने समय में मिलनेवाले भोग आकाश-पुष्पवत् हैं, यों समझकर हमें उनकी ओर से उदासीन रहना चाहिए और उतना ही समय हमारे पास है उसे भगवद्भक्ति में, सेवा में, व्यतीत कर सार्थक करना चाहिए और यदि आज-का-आज ही आत्मदर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिए ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

(ब्रह्मा का) दिन आरम्भ होनेपर सब अव्यक्त

में से व्यक्त होते हैं और रात पड़ने पर उनका प्रलय होता है, अर्थात् अव्यक्त में लय हो जाते हैं। १८

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्य को समझना चाहिए कि उसके हाथ में बहुत थोड़ी सत्ता है। उत्पत्ति और नाश का जोड़ा साथ-साथ चलता ही रहता है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ ! यह प्राणियों का समुदाय इस तरह पैदा हो होकर, रात पड़नेपर, विवश हुआ लय होता है और दिन उगने पर उत्पन्न होता है। १९

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

इस अव्यक्तसे परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियों का नाश होते हुए भी वह सनातन अव्यक्त भाव नष्ट नहीं होता। २०

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है उसीको परमगति कहते हैं। जिसे पानेके बाद लोगोंका पुनर्जन्म नहीं होता वह मेरा परमधाम है। २१

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ ! इस उत्तम पुरुष के दर्शन अनन्यभक्ति से होते हैं। इसमें भूतमात्र स्थित हैं। और यह सब उसीसे व्याप्त है। २२

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

जिस समय मरकर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस समय मरकर उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त होता है वह काल, हे भारतर्षभ ! मैं तुझसे कहूँगा। २३

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

उत्तरायण के छः महीनों में, शुक्लपक्ष में, दिन को जिस समय अग्नि को ज्वाला उठ रही हो उस समय जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म को पाता है। २४

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

दक्षिणायन के छः महीनों में, कृष्णपक्ष में, रात्रि

में, जिस समय धुआँ फैला हुआ हो उस समय मरने-वाला चन्द्रलोक को पाकर पुनर्जन्म पाता है। २५

टिप्पणी—ऊपर के दो श्लोक मैं पूरे तौर से नहीं समझता। उनके शब्दार्थ का गीता की शिक्षा के साथ मेल नहीं बैठता। उस शिक्षा के अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवामार्ग को सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जब मरे फिर भी मोक्ष ही पाता है। उससे इन श्लोकों का शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है, अर्थात् परोपकार में ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है मृत्यु के समय भी यदि उसकी ऐसी स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता, जिसे ज्ञान नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चन्द्रलोक अर्थात् क्षणिक लोक को पाकर फिर संसारचक्र में लौट आता है। चन्द्र के निजी ज्योति नहीं है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

जगत् में ज्ञान और अज्ञान के ये दो परम्परा से चलते आये मार्ग माने गये हैं। एक अर्थात् ज्ञान-मार्ग से मनुष्य मोक्ष पाता है; और दूसरे अर्थात् अज्ञानमार्ग से उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। २६

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों का जाननेवाला कोई भी योगी मोह में नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन ! तू सर्वकाल में योगयुक्त रहना। २७

टिप्पणी—दोनों मार्गों का जाननेवाला और समभाव रखनेवाला अन्धकार का—अज्ञान का—मार्ग नहीं पकड़ता, इसीका नाम है मोह में न पड़ना।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

यह वस्तु जान लेने के बाद वेद में, यज्ञ में, तप में और दान में जो पुण्यफल बतलाया है, उस सबको पार करके योगी उत्तम आदिस्थान पाता है। २८

टिप्पणी—अर्थात् जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवा-कर्म से समभाव प्राप्त किया है, उसे न केवल सब पुण्यों का फल ही मिल जाता है बल्कि उसे परम मोक्षपद भी मिल जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ८

ॐ तत्सत

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[६]

राजविद्या राजगुह्ययोग

[मंगल प्रभात

[पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोक में योगी का उच्च-स्थान बताया, अतएव अब भगवान् को भक्ति की महिमा बतानी ही रही। क्योंकि गीता का योगी शुष्कज्ञानी नहीं, वाह्याचारी भक्त भी नहीं, गीता का योगी तो ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करने वाला है। इसलिए भगवान् कहते हैं—'तुझ में द्वेष नहीं है, इसलिये मैं तुझे गुह्यज्ञान बताता हूँ, जिसे पाकर तेरा कल्याण हो। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आसानी के साथ इसका आचरण किया जा सकता है। इसमें जिसे श्रद्धा न हो वह मुझे नहीं पा सकता। मनुष्य-प्राणी इन्द्रियों द्वारा मेरा स्वरूप पहचान नहीं सकते; तथापि इस जगत् में वह व्याप्त है और जगत् उसके आधार पर टिका हुआ है। वह जगत् के आधार पर नहीं। और, एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि ये प्राणी मुझ में नहीं और मैं उनमें नहीं, यद्यपि उनकी उत्पत्ति का कारण मैं हूँ और उनका पोषणकर्ता हूँ। वे मुझ में नहीं और मैं उनमें नहीं, क्योंकि वे अज्ञान में रह

कर मुझे जानते नहीं। उनमें भक्ति नहीं। इसे तू मेरा चमत्कार समझ।

पर यह भास होते हुए भी कि मैं प्राणियों में नहीं हूँ, वायु की भांति मैं सर्वत्र छाया हुआ हूँ। और, सब जीव युग का अन्त होते ही लय पाते हैं और आरम्भ होते ही पुनः जन्म लेते हैं। इन कर्मों का कर्ता मैं हूँ तो भी ये मेरे लिए बन्धन-कारक नहीं, क्योंकि इनमें मुझे आसक्ति नहीं। इनके विषय में मैं उदासीन हूँ। ये कर्म होते रहते हैं क्योंकि यह मेरी प्रकृति है—मेरा स्वभाव है। पर मेरे इस रूप को लोग पहचानते नहीं, इसीसे नास्तिक रहते हैं। मेरी हस्ती ही से इनकार करते हैं। ऐसे लोग व्यर्थ की आशा के महल खड़े करते हैं, उनके काम भी निकम्मे होते हैं और वे अज्ञान से भरपूर रहते हैं,इसलिए आसुरीवृत्तिवाले कहलाते हैं। पर जो दैवीवृत्ति वाले हैं वे मुझे अविनाशी और सिरजनहार समझकर मेरा भजन करते हैं। उनके निश्चय दृढ़ होते हैं। वे नित्य प्रयत्नशील रहते हैं। मेरा भजन-कीर्तन करते हैं और मेरा ध्यान धरते हैं। और, कुछ तो यह माननेवाले हैं कि मैं एक ही हूँ। कुछ मुझे बहुरूप मानते हैं। मेरे अनन्त गुण हैं; इसलिए बहुरूप में माननेवाले भिन्न-भिन्न गुणों को भिन्न रूप से देखते हैं। पर इन सबको भक्त समझ।

यज्ञ का संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरों का आधार मैं, यज्ञ की वनस्पति मैं, मन्त्र मैं, आहुति मैं, हवन में जानेवाला द्रव्य मैं, अग्नि मैं, इस जगत् का पिता मैं, माता मैं,

जगत् को धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मन्त्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहने वाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सर्दी-गर्मी मैं, और सत् और असत् भी मैं।

जो वेदों में वर्णित क्रियायें करते हैं वे फल-प्राप्ति के लिए करते हैं। अतएव वे भले ही स्वर्ग पावें पर उनके लिए जन्म-मरण के चक्कर तो बाक़ी रहते ही हैं। परन्तु जो एक ही भाव से मेरा चिन्तन किया करते हैं और मुझे ही भजते हैं उनका सब बोझा मैं उठाता हूँ। उनकी ज़रूरतें मैं पूरी करता हूँ। और मैं ही उन्हें बनाये-सम्हाले रखता हूँ। दूसरे कुछ लोग अन्य देवताओं में श्रद्धा रखकर उन्हें भजते हैं, इसमें अज्ञान है, तो भी आख़िर वे मेरा ही भजन करनेवाले माने जाते हैं। क्योंकि यज्ञमात्र का स्वामी मैं हूँ, पर बग़ैर मेरी इस व्यापकता को समझे वे अन्तिम स्थिति को नहीं पहुँच सकते। देवों को पूजनेवाले देवलोक पाते हैं, पितरों के पूजक पितृलोक और भूत-प्रेतादि के पूजनेवाले उस लोक को पाते हैं, और ज्ञान-पूर्वक मेरा भजन करनेवाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्ता भी भक्ति-पूर्वक अर्पण करते हैं, उन प्रयत्नशील लोगों की भक्ति को मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिए तू जो-कुछ भी करे, मुझे अर्पण करके ही करना। इससे शुभाशुभ फल की ज़िम्मेवारी तेरी न रहेगी। तूने तो फलमात्र का त्याग किया है, इस कारण तेरे लिए जन्म-मरण के फेरे नहीं रहे। मेरे मत से सब प्राणी

समान हैं—एक प्रिय और दूसरा अप्रिय ऐसा नहीं है। पर जो भक्ति-पूर्वक मेरा भजन करते हैं, उनमें मैं हूँ। इसमें पक्षपात नहीं, पर वे अपनी भक्ति का फल पाते हैं। इस भक्ति का चमत्कार ऐसा है कि जो मुझे एक भाव से भजता है, वह दुराचारी हो तो भी साधु बन जाता है। सूर्य के सामने जिस प्रकार अँधेरा नहीं टिकता, उसी प्रकार मेरे पास आते ही मनुष्य के दुराचार का नाश हो जाता है। इसलिए निश्चय समझ कि मेरी भक्ति करनेवाले कभी नाश पाते ही नहीं, वे तो धर्मात्मा बनते और शान्ति भोगते हैं। इस भक्ति की महिमा ऐसी है कि जो पाप-योनि में जन्मे हुए माने जाते हैं, और अनपढ़ स्त्रियाँ, वैश्य, और शूद्र, जो मेरा आश्रय लेते हैं, वे मुझे पाते ही हैं। तो फिर पुण्य कर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रियों का तो कहना ही क्या? जो भक्ति करता है, उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू असार संसार में जन्मा है, तो मुझे भजकर इससे पार हो जा। अपना मन मुझमें पिरो दे। मेरा ही भक्त रह। अपने यज्ञ भी मेरे लिए कर। अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुँचा। इस प्रकार तू मुझमें परायण होगा और अपनी आत्मा को मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा, तो तू मुझे ही पावेगा।

टिप्पणी

इससे हम देखते हैं कि भक्ति का अर्थ ईश्वर में आसक्ति है। अनासक्ति सीखने का भी यह आसान-से-आसान उपाय है। इसलिए अध्याय के आरम्भ में प्रतिज्ञा की है

कि भक्ति राजयोग है और सहल मार्ग है—हृदय में बसे तो सहल, न बसे तो विकट है । इसीलिए इसे "सिर का सौदा" भी कहा है। पर यह तो "देखनारा दाझे जोने, मांहि पड्या ते महा सुख माणे"—अर्थात् (बाहर से) देखनेवाले जलते हैं, जो भीतर पड़े हैं, वे महासुख मानते हैं। कवि कहता है कि सुधन्वा खौलते हुए तेल के कड़ाह में हँसते थे, और बाहर खड़े हुए (लोग) काँप रहे थे। कहा जाता है कि जब नन्द अन्त्यज की अग्नि-परीक्षा की गई, तब वह आग पर नाचता था। यह सब इन व्यक्तियों के जीवन में संघटित हुआ था या नहीं, इसकी जाँच करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। जो किसी भी वस्तु में लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति हो जाती है। वह आपा भूल जाता है। पर प्रभु को छोड़कर दूसरे में लीन कौन होगा?"

"शाकर शेरडीनो स्वाद तजीने कड़वो लीमड़ो घोल मां

'चाँदा सूरजनुं तेज तजीने आगिया संगाथे प्रीत जोड़ मां।"—अर्थात्, शकर और गन्ने का स्वाद छोड़ कर कडुई नीम मत घोल; सूर्य-चन्द्र का तेज छोड़कर जुगनू में अपना मन मत लगा। इस प्रकार नवाँ अध्याय बताता है कि प्रभु में आसक्ति अर्थात् भक्ति के बिना फल की अनासक्ति असम्भव है। अन्तिम श्लोक सारे अध्याय का निचोड़ है। और हमारी भाषा में उसका अर्थ है—"तू मुझमें समा जा"]

[यरवदा-मन्दिर, ६-७-३१

इसमें भक्तिकी महिमा गाई है।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१॥

श्री भगवान् बोले—

तू द्वेषरहित है, इससे तुझे मैं गुह्य-से-गुह्य अनुभवयुक्त ज्ञान दूँगा, जिसे जान कर तू अकल्याण से बचेगा। १

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

विद्याओं में यह राजा है, गूढ़ वस्तुओं में भी राजा है। यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य, धार्मिक, आचार में लाने में सहज और अविनाशी है। २

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परन्तप ! इस धर्म में जिन्हें श्रद्धा नहीं है,

ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्ग में बारंबार ठोकर खाते हैं। ३

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह समूचा जगत् भरा हुआ है। मुझमें—मेरे आधार पर—सब प्राणी हैं, मैं उनके आधार पर नहीं हूँ। ४

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं, ऐसा भी कहा जा सकता है। यह मेरा योगबल तू देख। मैं जीवों का पालन करने वाला हूँ, फिर भी मैं उनमें नहीं हूँ। परन्तु मैं उनका उत्पत्तिकारण हूँ। ५

टिप्पणी—मुझमें सब जीव हैं और नहीं हैं और उनमें मैं हूँ और नहीं हूँ। यह ईश्वर का योगबल उसकी माया, उसका चमत्कार है। ईश्वर का वर्णन भगवान को भी मनुष्य की भाषा में ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग करके उसे सन्तोष देते हैं। ईश्वरमय सब है। इसलिए सब उसमें है। वह अलिप्त है। प्राकृत कर्ता नहीं है इसलिए उसमें जीव नहीं हैं, यह कहा जा सकता है। परन्तु जो उसके भक्त हैं उनमें वह अवश्य है।

जो नास्तिक है उसमें उसकी दृष्टि से तो वह नहीं है। और यह उसका चमत्कार नहीं तो और क्या कहा जाय?

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे सर्वत्र विचरता हुआ महान् वायु नित्य आकाश में विद्यमान है, वैसे सब प्राणी मुझमें हैं ऐसा जान। ६

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौन्तेय! सारे प्राणी कल्प के अन्त में मेरी प्रकृति में मिल जाते हैं और कल्प का आरम्भ होने पर मैं उन्हें फिर से रचता हूँ। ७

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी माया के आधार से प्रकृति के प्रभाव के अधीन रहने वाले प्राणियों के सारे समुदाय को मैं बारंबार उत्पन्न करता हूँ। ८

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनञ्जय ! ये कर्म मुझे बन्धन नहीं करते, क्योंकि मैं उनमें उदासीन के समान और आसक्ति-रहित बर्तता हूँ । ९

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मेरे अधिकार में प्रकृति स्थावर और जंगम जगत् को उत्पन्न करती है और इसी हेतु हे कौन्तेय ! जगत् घटमाल (रहँट) की तरह घूमा करता है । १०

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

प्राणीमात्र के महेश्वररूप मेरे भाव को न जानकार मूर्ख लोग मुझ मनुष्य-तनधारी की अवज्ञा करते हैं । ११

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग ईश्वर की सत्ता नहीं मानते, वे शरीरस्थित अन्तर्यामी को नहीं पहचानते और उसके अस्तित्व को न मानकर जड़वादी रहते हैं ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ काम करनेवाले और व्यर्थ ज्ञान वाले मूढ़ लोग मोह में डाल रखने वाली

राक्षसी या आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। १२

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

इससे विपरीत, हे पार्थ ! महात्मा लोग दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर मुझे प्राणीमात्र का आदि-कारण अविनाशी जानकर एकनिष्ठा से भजते हैं। १३

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

वे दृढ़ निश्चय वाले, प्रयत्न करने वाले निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं, मुझे भक्ति से नमस्कार करते हैं और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं। १४

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

और दूसरे लोग अद्वैतरूप से या द्वैतरूप से अथवा बहुरूप से सब कहीं रहनेवाले मुझको ज्ञान द्वारा पूजते हैं। १५

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

यज्ञ का संकल्प मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, यज्ञद्वारा पितरों का आधार मैं हूँ, यज्ञ की वनस्पति मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, आहुति मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवन-द्रव्य मैं हूँ। १६

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस जगत् का पिता मैं, माता मैं, धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य मैं, पवित्र ॐकार मैं, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। १७

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

गति मैं, पोषक मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मैं, उत्पत्ति मैं, नाश मैं, स्थिति मैं, भण्डार मैं और अव्यय बीज भी मैं हूँ। १८

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

धूप मैं देता हूँ, वर्षा को मैं ही रोक रखता और बरसने देता हूँ। अमरता मैं हूँ, मृत्यु मैं हूँ और हे अर्जुन! सत् तथा असत् भी मैं ही हूँ। १९

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

तीन वेद के कर्म करनेवाले, सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए यज्ञद्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग माँगते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्ग में दिव्य भोग भोगते हैं। २०

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियाएँ फल प्राप्ति के लिए की जाती थीं और उनमें से कई क्रियाओं में सोमपान होता था उसका यहाँ उल्लेख है। ये क्रियाएँ क्या थीं, सोमरस क्या था, आज ठीक-ठीक कोई नहीं बतला सकता।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥२१॥

इस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर वे पुण्य का क्षय हो जाने पर मृत्यु-लोक में वापस आते हैं। इस प्रकार तीन वेद के कर्म करने वाले, फल की इच्छा रखनेवाले जन्ममरण के चक्कर काटा करते हैं। २१

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो लोग अनन्यभाव से मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं उन नित्य मुझ में ही रत रहनेवालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूँ। २२

टिप्पणी—इस प्रकार योगी को पहचानने के तीन सुन्दर लक्षण हैं—समत्व, कर्म में कौशल, अनन्य भक्ति। ये तीनों एक-दूसरे में ओतप्रोत होने चाहिए। भक्ति, बिना समत्व के नहीं मिलती; समत्व, बिना भक्ति के नहीं मिलता, और कर्मकौशल के बिना भक्ति तथा समत्व का आभासमात्र होने का भय है। योग अर्थात् वस्तु को प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तु को सँभाल रखना।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

और हे कौन्तेय ! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवता को भजते हैं, वे भी, विधि-रहित होने पर भी मुझे ही भजते हैं। २३

टिप्पणी—विधि-रहित अर्थात् अज्ञान के कारण मुझ एक-निरंजन निराकार को न जान कर।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

जो मैं ही सब यज्ञों का भोगनेवाला स्वामी हूँ उसे वे सच्चे स्वरूप में नहीं पहचानते, इसलिए वे गिरते हैं। २४

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्

देवताओं का पूजन करनेवाले देवलोकों को पाते हैं, पितरों का पूजन करनेवाले पितृलोक पाते हैं, भूत-प्रेतादि को पूजनेवाले उन लोकों को पाते हैं और मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २५

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।२६।।

पत्र, फूल, फल, या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूँ। २६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वरप्रीत्यर्थ जो-कुछ सेवाभाव से दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणी में रहनेवाले अन्तर्यामी रूप से भगवान ही करते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।२७।।

इसलिए हे कौन्तेय! तू जो करे, जो खाय,

जो हवन में होमे, जो दान में दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके कर। २७

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।२८।।

इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म-बन्धन-से छूट जायगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर, जन्ममरण से मुक्त होकर मुझे पावेगा। २८

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् २९।।

सब प्राणियों में मैं समभाव से रहता हूँ । मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझ में हैं और मैं भी उनमें हूँ ! २९

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ३०।।

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभाव से मुझे भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिये, क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। ३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्यभक्ति दुराचार को शान्त कर देती है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ३१।।

वह तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है। और निरन्तर शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। ३१

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्

फिर हे पार्थ! जो पापयोनि हों वे भी और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं वे परमगति को पाते हैं। ३२

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि जो मेरे भक्त हैं, उनका तो कहना ही क्या है? इसलिए इस अनित्य और सुखरहित लोक में जन्म ले कर तू मुझे भज। ३३

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥३४॥

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो
नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त

यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझ में परायण होकर आत्मा को मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा । ३४

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्री मद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय समाप्त हुआ ।

[१०]

विभूतियोग

[सोमप्रभात

[भगवान् कहते हैं—"पुनः भक्तों के हित के लिए कहता हूँ सो सुन। देव और महर्षि तक मेरी उत्पत्ति नहीं जानते, क्योंकि मुझे उत्पन्न होने की आवश्यकता ही नहीं है। मैं उनकी और दूसरे सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ। जो ज्ञानी मुझे अजन्म और अनादि रूप में पहचानते हैं वे सब पापों से मुक्त होते हैं। क्योंकि परमेश्वर को इस रूप में जानने के बाद, और अपनेको उसकी प्रजा या उसके अंश रूप में पहचानने के पश्चात्, मनुष्य की पापवृत्ति रही नहीं सकती। पापवृत्ति का मूल ही अपने सम्बन्ध का अज्ञान है।

"जिस प्रकार प्राणी मुझसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उनके भिन्न-भिन्न भाव, जैसे क्षमा, सत्य, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय, वग़ैरा भी मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। इस सबको मेरी विभूति समझनेवालों में सहज ही समता उत्पन्न होती है, क्योंकि वे अहंता छोड़ देते हैं। और उनका चित्त मुझमें ही लगा हुआ रहता है; वे मुझे अपना सब-कुछ अर्पण करते हैं, एक-दूसरे से मेरे विषय में ही बात-चीत करते हैं, मेरा ही कीर्तन करते हैं और संतोष और आनन्द से

रहते हैं। इस प्रकार जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं और मुझमें ही जिनका मन रहता है, उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं।"

इसपर अर्जुन ने स्तुति की—"आप ही परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको देव, अजन्म, ईश्वर-रूप में भजते हैं, स्वयं आपका यह कथन है। हे स्वामी, हे पिता, आपका स्वरूप कोई नहीं जानता! आप ही अपनेको जानते हैं! अब अपनी विभूतियाँ मुझे बताइए और बताइए कि आपका चिन्तन करते हुए मैं किस रीति से आपको पहचान सकता हूँ।"

भगवान् ने उत्तर दिया—"—मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं। उनमें से कुछ मुख्य तुझे बताता हूँ। मैं सब प्राणियों के हृदय में रहने वाला हूँ, मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य, और उनका अन्त हूँ। आदित्यों में विष्णु, उज्ज्वल वस्तुओं में प्रकाशमान् सूर्य, वायुओं में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्र, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, प्राणियों की चेतन-शक्ति, रुद्रों में शंकर, यक्षराक्षसों में कुबेर, दैत्यों में प्रह्लाद, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुड़ मैं, और छल करनेवाले का द्यूत भी मैं ही हूँ। इस जगत् में जो-कुछ होता है, वह मेरी आज्ञा के बिना हो ही नहीं सकता। भला-बुरा भी मैं ही होने देता हूँ, तभी होता है। यह जानकर मनुष्य को अभि-मान छोड़ना चाहिए और बुराई से बचना चाहिए। क्योंकि अच्छे-बुरे का फल देनेवाला भी मैं हूँ। तू यह जान ले कि

यह सारा जगत् मेरी विभूति के एक अंश-मात्र से टिका हुआ है।"]

यरवदा-मन्दिर, १२-१-३१]

सातवें, आठवें, और नवें अध्याय में भक्ति आदि का निरूपण करने के बाद भगवान् भक्त के निमित्त अपनी अनन्त विभूतियों का कुछ थोड़ा-सा दर्शन कराते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—

हे महाबाहो ! फिर मेरा परम वचन सुन । यह मैं तुझ प्रियजन से तेरे हित के लिए कहूँगा । १

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

देव और महर्षि मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देव और महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण हूँ । २

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

मृत्युलोक में रहता हुआ जो ज्ञानी मुझ लोकों

के महेश्वर को अजन्मा और अनादि रूप में जानता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है । ३

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, शान्ति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, और अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश इस प्रकार प्राणियों के भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं । ४-५

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सप्तर्षि, उनके पहले सनकादिक और (चौदह) मनु मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं और उनमें से ये लोक उत्पन्न हुए हैं । ६

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

इस मेरी विभूति और शक्ति को जो यथार्थ

जानता है वह अविचल समता का पाता है इसमें संशय नहीं है। ७

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं सब की उत्पत्ति का कारण हूँ और सब मुझ से ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भाव से मुझे भजते हैं। ८

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मुझमें चित्त लगाने वाले, मुझे प्राणार्पण करने वाले एक-दूसरे को बोध करते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, संतोष और आनन्द में रहते हैं। ९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवालों को और मुझे प्रेम से भजनेवालों को मैं ज्ञान देता हूँ और उससे वे मुझे पाते हैं। १०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उन पर दया करके उनके हृदय में स्थित मैं ज्ञान-

रूपी प्रकाशमय दीपक से उनके अज्ञान-रूपी अन्ध-
कार का नाश करता हूँ। ११

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोले—

हे भगवान् ! आप परम ब्रह्म हैं, परमधाम हैं, परम पवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि, नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं। १२-१३

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवान् ! आपके स्वरूप को न देव जानते हैं, न दानव। १४

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे जीवों के पिता ! हे जीवेश्वर ! हे देवों के देव ! हे जगत् के स्वामी ! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपनेको जानते हैं । १५

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि १६

जिन विभूतियों के द्वारा इन लोकों में आप व्याप रहे हैं, अपनी वे दिव्य विभूतियाँ पूरी-पूरी मुझसे आपको कहनी चाहिए । १६

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन् ! आपका नित्य चिन्तन करते-करते आपको मैं कैसे पहचान सकता हूँ ? हे भगवान् ! किस-किस रूप में आपका चिन्तन करना चाहिए ? १७

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

हे जनार्दन ! अपनी शक्ति और अपनी विभूति का वर्णन मुझसे फिर विस्तार-पूर्वक कीजिए । आपकी अमृत-मय वाणी सुनते-सुनते तृप्ति ही नहीं होती । १८

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान् बोले—

हे कुरुश्रेष्ठ! अच्छा, मैं अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियाँ तुझसे कहूँगा। उनके विस्तार का अन्त तो है ही नहीं। १९

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश! मैं सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान आत्मा हूँ। मैं ही भूतमात्र का आदि, मध्य और अन्त हूँ। २०

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, ज्योतियों में जगमगाता सूर्य मैं हूँ, वायुओं में मरीचि मैं हूँ, नक्षत्रों में चन्द्र मैं हूँ। २१

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवों में इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रि-

यों में मन मैं हूँ और प्राणियों का चेतन मैं हूँ। २२

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रों में शंकर मैं हूँ, यक्ष और राक्षसों में कुवेर मैं हूँ, वसुओं में अग्नि मैं हूँ, पर्वतों में मेरु मैं हूँ। २३

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ! पुरोहितों में प्रधान बृहस्पति मुझे समझ। सेनापतियों में कार्तिक स्वामी मैं हूँ और सरोवरों में सागर मैं हूँ। २४

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

महर्षियों में भृगु मैं हूँ, वाणी में एकाक्षरी ॐ मैं हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ। २५

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

सब वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) मैं हूँ, देवर्षियों में

नारद मैं हूँ, गन्धर्वों में चित्ररथ मैं हूँ और सिद्धों में कपिलमुनि मैं हूँ। २६

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वों में अमृत में से उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा मुझे जान । हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मैं हूँ । २७

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

हथियारों में वज्र मैं हूँ, गायों में कामधेनु मैं हूँ, प्रजा की उत्पत्ति का कारण कामदेव मैं हूँ, सर्पों में वासुकि मैं हूँ । २८

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागों में शेषनाग मैं हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा मैं हूँ और दण्ड देनेवालों में यम मैं हूँ । २९

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ, गिननेवालों में काल मैं

हूँ, पशुओं में सिंह मैं हूँ, पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ। ३०

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

पावन करनेवालों में पवन मैं हूँ, शस्त्रधारियों में परशुराम मैं हूँ, मछलियों में मगरमच्छ मैं हूँ, नदियों में गंगा मैं हूँ। ३१

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं हूँ, विद्याओं में आत्मविद्या मैं हूँ और वादविवाद करनेवालों का वाद मैं हूँ। ३२

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

अक्षरों में अकार मैं हूँ, समासों में द्वन्द्व मैं हूँ, अविनाशी काल मैं हूँ और सर्वव्यापी धारण करने वाला भी मैं हूँ। ३३

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ३४

सब को हरनेवाली मृत्यु मैं हूँ, भविष्य में उत्पन्न होनेवालों का उत्पत्ति-कारण मैं हूँ और स्त्री-

लिङ्ग के नामों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हूँ। ३४

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सामों में बृहत् (बड़ा) साम मैं हूँ, छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष मैं हूँ, ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ। ३५

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ३६

छल करनेवाले का द्यूत मैं हूँ, प्रतापी का प्रभाव मैं हूँ, जय मैं हूँ, निश्चय मैं हूँ, सात्त्विक भाववाले का सत्त्व मैं हूँ। ३६

टिप्पणी—छल करनेवालों का द्यूत मैं हूँ इस वचन से भड़कने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ सारासार का निर्णय नहीं है, किन्तु जो कुछ होता है वह बिना ईश्वर की आज्ञा के नहीं होता यह बतलाने का भाव है। और सब उसके आधीन है, यह जाननेवाला कपटी भी अपना अभिमान छोड़कर कपट त्यागे।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिकुल में वासुदेव मैं हूँ, पाण्डवों में धनञ्जय

(अर्जुन) मैं हूँ, मुनियों में व्यास मैं हूँ और कवियों में उशना मैं हूँ। ३७

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

शासक का दण्ड मैं हूँ, जय चाहनेवालों की नीति मैं हूँ, गुह्य बातों में मौन मैं हूँ और ज्ञानवान् का ज्ञान मैं हूँ। ३८

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ। जो-कुछ स्थावर या जङ्गम है वह मेरे बिना नहीं है। ३९

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त ही नहीं है। विभूतियों का विस्तार मैंने केवल दृष्टान्त-रूप से बतलाया है। ४०

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

जो कुछ भी विभूतिमान्, लक्ष्मीवान् या प्रभावशाली है, उसे मेरे तेज के अंश से ही हुआ समझ। ४१

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-
विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥

अथवा हे अर्जुन! यह विस्तार-पूर्वक जानकर तुझे क्या करना है? अपने एक अंशमात्र से इस समूचे जगत् को धारण करके मैं विद्यमान हूँ। ४२

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात्
ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग-शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद
का विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय
समाप्त हुआ।

---

[११]

विश्वरूपदर्शनयोग

[सोम प्रभात

[अर्जुन ने विनती की—हे भगवान् आपने मुझे आत्मा के बारे में जो बात कही है, उससे मेरा मोह दूर हुआ है। आप ही सब कुछ हैं, आप ही कर्त्ता हैं, आप ही संहर्त्ता हैं; आप ही नाशरहित हैं। यदि सम्भव हो तो अपने ईश्वरीय रूप का दर्शन मुझे कराइये।

भगवान् बोले—मेरे रूप हज़ारों हैं और अनेक रङ्ग वाले हैं। उनमें आदित्य, वसु, रुद्र वग़ैरा समाये हुए हैं। मुझ में सारा जगत्—चर और अचर—समाया हुआ है। इस रूप को तू अपने चर्म-चक्षु से नहीं देख सकता। इसलिये मैं तुझे दिव्य-चक्षु देता हूँ, उनके द्वारा इसे देख।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजन् इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन से कह कर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम तो रोज़ एक सूर्य देखते हैं, पर मान लीजिए कि हज़ारों सूर्य रोज़ उगते हैं तो उनका जैसा तेज होगा उसकी अपेक्षा भी यह तेज अधिक चौंधियाने वाला था। उसके आभूषण और शस्त्र भी वैसे ही दिव्य थे। उसका दर्शन करके अर्जुन के रोंगटे

खड़े होगये, उसका सिर घूमने लगा और वह कॉंपते कॉंपते स्तुति करने लगाः—

'हे देव! आपकी इस विशाल देह में मैं तो सब-कुछ और सब-किसी को देखता हूँ। ब्रह्मा इसमें हैं, महादेव इसमें हैं, ऋषि इसमें हैं, सर्प इसमें हैं। आपके हाथ मुँह गिने नहीं जाते। आपका न आदि है, न अन्त है, न मध्य। आपका रूप तो मानों तेज का पहाड़ है—देखते ही आँखें चौंधिया जाती हैं। धधकती हुई आग की तरह जगमगा रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगत् के आधार हैं, आप ही पुराण पुरुष हैं, आप ही धर्म के रक्षक हैं। जिधर नज़र फेंकता हूँ आपके अवयव ही दिखाई पड़ते हैं। सूर्य-चन्द्र तो ऐसे ही मालूम होते हैं, मानों आपकी आँखें हों। आप ही इस पृथ्वी और आकाश में व्याप्त हैं। आपका तेज सारे जगत् को तपाता है। यह जगत् थर्रा रहा है, काँप रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध वगैरा सब हाथ जोड़ कर काँपते-काँपते आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराट्रूप और इस तेज को देखकर मैं तो व्याकुल होगया हूँ। शान्ति और धैर्य नहीं रहा। हे देव! प्रसन्न हूजिये। आपकी डाढ़ें विकराल हैं, आपके मुँह में दीपक पर पतंगों की तरह इन लोगों को तैरते देखता हूँ। आप इन्हें चूर-चूर कर रहे हैं। यह उग्र-रूप आप कौन हैं? आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं समझ सकता।'

भगवान् बोले—लोगों का नाश करने वाला मैं काल हूँ, तू लड़े या न लड़े, पर इन सबका नाश तो निश्चित ही समझ। तू तो निमित्त-मात्र है।

अर्जुन बोले—हे देव, हे जगन्निवास! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं, और इससे भी जो परे है वह भी आप हैं। आप आदि देव हैं, आप पुराण पुरुष हैं, आप इस जगत् के आश्रय हैं, आप ही जानने-योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हज़ारों नमस्कार हैं! अब अपना मूल-स्वरूप धारण कीजिए।

यह सुनकर भगवान् ने कहा—तुझ पर प्रसन्न होकर तुझे अपना विश्वरूप बताया है। वेदाभ्यास से, यज्ञ से, दूसरे शास्त्रों के अभ्यास से, दान से, और तप से भी जो रूप नहीं देखा जाता वही आज तूने देखा है। इसे देखकर तू व्याकुल मत बन। डर छोड़ दे और मेरा परिचित रूप देख। मेरे ये दर्शन देवों को भी दुर्लभ हैं। मेरे दर्शन केवल शुद्ध भक्ति से ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करते हैं, मुझमें परायण रहते हैं, मेरे भक्त बनते हैं, आसक्ति-मात्र छोड़ते हैं और प्राणिमात्र के प्रति प्रेममय रहते हैं वही मुझे पाते हैं।

टिप्पणी:— दसवें अध्याय की तरह इस अध्याय को भी मैंने जान बूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्य-मय है। इसलिए या तो मूल में अथवा अनुवाद के रूप में, यह जैसा है, वैसा ही बार-बार पढ़ने योग्य है। ऐसा करने से सम्भव है, भक्ति-रस पैदा हो। यह रस पैदा हुआ है या नहीं, यह जानने की कसौटी अन्तिम श्लोक है। बिना सर्वार्पण और सर्वव्यापक प्रेम के भक्ति संभव नहीं। ईश्वर के काल-रूप का मनन करने से और इस बात का भान

होने से कि उसके मुख में सृष्टिमात्र को समा जाना है, प्रति-क्षण काल का यह काम होता ही रहता है, सर्वार्पण और जीव मात्र के साथ ऐक्य सहज ही प्राप्त होता है। इच्छा या अनिच्छा से जब हमें इस मुख में किसी अनिश्चित-अनजान-क्षण में समा जाना है, तो फिर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का, स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर का भेद नहीं रह जाता। सब कालेश्वर के एक कौर हैं, इसे जानकर हम दीन, और शून्यवत् क्यों न बनें? क्यों न सबके साथ मित्रता बाँधे? ऐसा करनेवाले को यह कालस्वरूप भयंकर नहीं मालूम होगा, बल्कि शक्ति का स्थान बनेगा।

[यरवदा मंदिर १६-१-३१

---

[११]

इस अध्याय में भगवान् अपना विराट् स्वरूप अर्जुन को बतलाते हैं। भक्तों को यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें नहीं, केवल काव्य है। इस अध्याय का पाठ करने में मनुष्य थकता ही नहीं।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य कहा है। आपने मुझसे जो वचन कहे हैं, उनसे मेरा यह मोह टल गया है। १

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

प्राणियों की उत्पत्ति और नाश के सम्बन्ध में मैंने आपसे विस्तारपूर्वक सुना। उसी प्रकार आपका अविनाशी माहात्म्य भी, हे कमलपत्राक्ष! सुना। २

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर ! आप जैसा अपने को पहिचनवाते हैं वैसे ही हैं । हे पुरुषोत्तम ! आपके उस ईश्वरीरूप के दर्शन करने की मुझे इच्छा होती है । ३

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो ! वह दर्शन करना मेरे लिए आप सम्भव मानते हों तो हे योगेश्वर ! उस अव्यय रूप का दर्शन कराइए । ४

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख । वे नाना प्रकार के, दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकारवाले हैं । ५

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दो अश्विनों और मरुतों को देख। जो पहले कभी नहीं देखे गये ऐसे बहुत से आश्चर्यों को तू देख। ६

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश ! यहाँ मेरे शरीर में एक रूप से स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत् तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख। ७

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

इन अपने चर्मचक्षुओं से तू मुझे नहीं देख सकता। तुझे मैं दिव्यचक्षु देता हूँ। तू मेरा ईश्वरीयोग देख। ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय ने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्ण ने ऐसा कहकर पार्थ को अपना परम ईश्वरी रूप दिखलाया। ९

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

वह अनेक मुख और आँखोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्यशस्त्रों वाला था। १०

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

उसने अनेक दिव्य मालायें और वस्त्र धारण कर रखे थे और उसके दिव्य सुगंधित लेप लगे हुए थे। ऐसे वह सर्व प्रकार से आश्चर्यमय, अनंत, सर्वव्यापी देव थे। ११

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः १२

आकाश में हजार सूर्यों का तेज एक साथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्मा के तेज जैसा कदाचित् हो। १२

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

वहाँ इस देवाधिदेव के शरीर में पाण्डव ने

अनेक प्रकार से विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूप में विद्यमान देखा। १३

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

फिर आश्चर्यचकित और रोमाञ्चित हुए धनञ्जय सिर झुका, हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— १४

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपकी देह में मैं देवताओं को, भिन्न-भिन्न प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को, कमलासन पर विराजमान ईश ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूँ। १५

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनन्त रूपवाला देखता हूँ। आपका अन्त नहीं है, मध्य नहीं है, न है आपका आदि। हे विश्वेश्वर! आपके विश्वरूप का मैं दर्शन कर रहा हूँ। १६

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेज के पुञ्ज, सर्वत्र जगमगाती ज्योतिवाले, साथ ही कठिनाई से दिखाई देनेवाले, अपरिमित और प्रज्वलित अग्नि किंवा सूर्य के समान सभी दिशाओं में देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूँ। १७

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आपको मैं जानने योग्य परम अक्षररूप, इस जगत् का अन्तिम आधार, सनातन धर्म का अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूँ। १८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

जिसका आदि, मध्य या अन्त नहीं है, जिसकी शक्ति अनन्त है, जिसके अनन्त बाहु हैं, जिसके सूर्यचन्द्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है और जो अपने तेज से इस जगत् को तपा रहा है ऐसे आपको मैं देख रहा हूँ। १९

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अन्तर में और समस्त दिशाओं में आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन्! यह आपका अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं। २०

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

और यह देवों का संघ आपमें प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों का समुदाय '(जगत् का) कल्याण हो' कहता हुआ अनेक प्रकार से आपका यश गा रहा है। २१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्, गरम ही पीनेवाले पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों का संघ, ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं। २२

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् २३

हे महाबाहो! बहुत से मुख और आँखोंवाला, अनेक हाथ, जंघा और पैरवाला, अनेक पेटवाला, और अनेक दाढ़ों के कारण विकराल दीखनेवाला

विशाल रूप देखकर लोग व्याकुल हो गये हैं। वैसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूँ। २३

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो २४॥

आकाश का स्पर्श करते, जगमगाते, अनेक रंगोंवाले, खुले मुखवाले और विशाल तेजस्वी नेत्रवाले, आपको देखकर हे विष्णु ! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शान्ति नहीं रख सकता। २४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

प्रलयकाल के अग्नि के समान और विकराल दाढ़ोंवाला आपका मुख देखकर न मुझे दिशायें जान पड़ती हैं, न शान्ति मिलती है; हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइए। २५

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ

सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु

संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

सब राजाओं के संघ सहित, धृतराष्ट्र के ये पुत्र भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूतपुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराल दाढ़ोंवाले आपके भयानक मुख में वेग से प्रवेश कर रहे हैं। कितनों ही के सिर चूर होकर आपके दांतों के बीच में लगे हुए दिखाई देते हैं। २६-२७

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा

विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जिस प्रकार नदियों की बड़ी धार समुद्र की ओर दौड़ती है उस प्रकार आपके धधकते हुए मुख में ये लोकनायक प्रवेश कर रहे हैं। २८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा ॥२९॥

जैसे पतंग अपने नाश के लिए बढ़ते वेगसे जलते हुए दीपक में कूदते हैं वैसे आपके मुख में भी सब लोग बढ़ते हुए वेग से प्रवेश कर रहे हैं। २९

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

सब लोगों को सब ओर से निगल कर आप अपने धधकते हुए मुख से चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु ! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगत् को तेजसे पूरित कर रहा है और तपा रहा है। ३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझसे कहिए। हे देववर! आप प्रसन्न होइए। आप जो आदि कारण हैं, उन्हें मैं जानना चाहता हूँ। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता। ३१

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान् बोले—

लोकों का नाश करनेवाला, बढ़ा हुआ मैं काल हूँ। लोकों का नाश करने के लिए यहाँ आया हूँ। प्रत्येक सेना में जो ये सब योद्धा आये हुए हैं उनमें से कोई तेरे लड़ने से इनकार करने पर भी बचनेवाले नहीं हैं। ३२

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिए तू उठ खड़ा हो, कीर्ति प्राप्त कर, शत्रु को जीत कर धनधान्य से भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहले से ही मार रखा है। हे सव्यसाची! तू तो केवल निमित्तरूप हो जा। ३३

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओं को मैं मार ही चुका हूँ। उन्हें तू मार; डर मत; लड़; शत्रु को तू रण में जीतने को है। ३४

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय ने कहा—

केशव के ये वचन सुनकर हाथ जोड़े, कांपते हुए, बारंबार नमस्कार कर के, डरते-डरते, प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुन श्रीकृष्ण से गद्गद्कण्ठ से इस प्रकार बोले । ३५

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

हे हृषीकेश ! आपका कीर्तन करके जगत् को जो हर्ष होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है वह उचित ही है । भयभीत राक्षस इधर-उधर भागते हैं और सिद्धों का समूचा समुदाय आपको नमस्कार करता है । ३६

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्

गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास

त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! वे आपको क्यों नमस्कार न करें ? आप ब्रह्मा से भी बड़े आदिकर्ता हैं । हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास ! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और इससे जो परे है वह भी आप ही हैं। ३७

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-

स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदि देव हैं । आप पुराण पुरुष हैं । आप इस विश्व के परम आश्रयस्थान हैं । आप जाननेवाले हैं और जाननेयोग्य हैं । आप परमधाम हैं । हे अनन्तरूप ! इस जगत् में आप व्याप्त हो रहे हैं । ३८

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार पहुँचे। और फिर भी आपको नमस्कार पहुँचे। ३९

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओर से नमस्कार है। आपका वीर्य अनन्त है, आपकी शक्ति अपार है, सब-कुछ आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप ही सर्व हैं। ४०

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! इस प्रकार सम्बोधित कर मुझसे भूल में या प्रेम में भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते बैठते या खाते अर्थात् संगति में आपका जो-कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा करने के लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ । ४१-४२

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

स्थावर जंगम जगत् के आप पिता हैं । आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं । आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहाँ से हो सकता है ? तीनों लोक में आपके सामर्थ्य का जोड़ नहीं है । ४३

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वर से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ । हे देव, जिस तरह पिता पुत्र को, सखा सखा को सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिए मुझे सहन करने योग्य हैं । ४४

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे रोएँ खड़े हो गये हैं और भय से मेरा मन व्याकुल हो गया है । इसलिए हे देव ! अपना पहले का रूप दिखलाइए । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइए । ४५

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

पूर्व की भाँति आपका—मुकुटगदाचक्रधारी का दर्शन करना चाहता हूँ । हे सहस्रबाहु ! हे विश्वमूर्ति ! अपना चतुर्भुज रूप धारण कीजिए । ४६

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—

हे अर्जुन ! तुझ पर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्ति से अपना तेजोमय, विश्वव्यापी, अनंत, परम आदिरूप दिखाया है; यह तेरे सिवा और किसी ने पहले नहीं देखा है । ४७

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर ! वेदाभ्यास से, यज्ञ से, अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन से, दान से, क्रियाओं से, या उग्र तपों से तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखने में समर्थ नहीं है । ४८

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत, मोह में मत पड़ । डर छोड़कर शान्तचित्त हो और मेरा परिचित रूप फिर देख । ४९

संजयउवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय ने कहा—

यों वासुदेव ने अर्जुन से कहकर अपना रूप फिर दिखाया। और फिर शान्तमूर्ति धारण करके भय-भीत अर्जुन को उस महात्मा ने आश्वासन दिया। ५०

अर्जुनउवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन! यह आपका सौम्य मानवस्वरूप देखकर अब मैं शान्त हुआ और ठिकाने आ गया हूँ। ५१

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ५२

श्री भगवान् बोले—

मेरा जो रूप तूने देखा उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी वह रूप देखने को तरसते रहते हैं। ५२

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेद से, न तपसे, न दान से अथवा न यज्ञसे हो सकते हैं। ५३

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परन्तु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे सम्बन्ध में ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझ में वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही सम्भव है। ५४

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पाण्डव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझ में परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है और प्राणीमात्र में द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ५५

विश्वरूप दर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

ॐतत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

---

[१२]

भक्तियोग

[मंगल प्रभात

"आश्रम में पाले जानेवाले व्रतों के बारे में, यज्ञ के बारे में, और यज्ञ की आवश्यकता के बारे में हम विचार कर चुके। अब जिस पुस्तक का हम हर पखवाड़े में रोज़ थोड़ा-थोड़ा करके पारायण करते हैं, मनन करते हैं, जिसे हमने अपने लिए आध्यात्मिक दीपस्तम्भ—ध्रुवरूप—बना रखा है, उसे मैं जिस तरह समझा हूँ, उसका विचार कर लेना चाहता हूँ। यह विचार पहले एक पत्र से तो सूझा ही था, गत सप्ताह'''भाई के पत्र ने मुझसे इसका निश्चय कराया। वह लिखते हैं कि वह अनासक्तियोग पढ़ते तो हैं, पर समझने में कष्ट बहुत होता है। आम-फ़हम भाषा में अर्थ करने का प्रयत्न करते हुए भी शब्दशः अनुवाद करने के कारण समझने में कठिनाई तो रही ही है। जहाँ विषय ही कठिन हो, वहाँ सरल भाषा क्या कर सकती है? अतएव अब विषय को ही सरल—आसान—भाषा में समझाने का प्रयत्न करने का विचार है। जिस चीज़ का हम चलते-फिरते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायता से हम अपनी तमाम आन्तरिक उलझनें सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, वह ग्रन्थ जितनी तरह से, जिस तरह समझ में आवे, उस तरह हम उसे समझें, और बार-बार उसका मनन करें तो अन्त-

में हम तन्मय हो सकेंगे। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयों में गीता माता के पास दौड़ जाता हूँ और आजतक आश्वासन पा सका हूँ। इसलिए जो उससे आश्वासन पानेवाले हैं, सम्भव है, उन्हें वह रीति जानकर कुछ अधिक मदद मिले, जिस रीति से मैं रोज़-ब-रोज़ गीता को समझता जाता हूँ, अथवा यह भी असम्भव नहीं कि उन्हें उसमें से कुछ नया ही देख पड़े।

आज तो बारहवें अध्याय का सारांश देना चाहता हूँ। यह भक्तियोग है। विवाह के अवसर पर हम दम्पति को पाँच यज्ञों में से एक यज्ञ रूप में इसे जर-ज़बान याद करके इसका मनन करने को कहते हैं। भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म शुष्क हैं, रूखे हैं और बन्धन रूप भी हो सकते हैं। अतएव भक्तिमय होकर गीता का यह मनन हम आरम्भ करें।

अर्जुन भगवान से पूछते हैं—

साकार को पूजनेवाले और निराकार को पूजनेवाले भक्तों में अधिक अच्छे कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं—जो मेरे साकार रूप का श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं। पर जो निराकार तत्त्व को भजते हैं, और उसकी उपासना के लिए जो इन्द्रियमात्र का संयम करते हैं, सब चीज़ों के प्रति समभाव रखते हैं, किसीको ऊँच-नीच नहीं समझते, वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जाता कि इन दोनों में अमुक श्रेष्ठ है। परन्तु शरीरधारी से निराकारी की भक्ति सम्पूर्ण रीति से होनी अशक्य मानी जाती है। निराकार

निर्गुण है और इसलिए मनुष्य की कल्पना से भी परे है, इसलिए सब देहधारी जाने में और अनजाने में साकार के ही भक्त हैं। अतएव तू तो मेरे साकार विश्वरूप में ही अपना मन पिरो दे, सब उसके पास रख दे। यदि यह न किया जा सके तो चित्त के विकारों को रोकने का अभ्यास शुरू कर। अर्थात् यम-नियमादि का पालन करके, प्राणायाम-आसनादि की मदद लेकर मन पर क़ाबू प्राप्त कर। यह भी न कर सकता हो तो जो-कुछ करे, वह मेरे ही लिए करता है, इस धारणा से तू अपने सब काम कर। इससे तेरा मोह, तेरी ममता घटेगी और वैसे-वैसे तू निर्मल शुद्ध होता जायगा और तुझमें भक्तिरस आवेगा। यह भी न हो सके तो कर्म-मात्र के फल का त्याग कर दे। अर्थात् फल की इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्से जो काम आ जाय, वह किया कर। मनुष्य फल का स्वामी हो ही नहीं सकता। फल के उपजाने में अनेक अङ्ग—कारण—इकट्ठा होते हैं, तब वह पैदा होता है। इसलिए तू केवल निमित्त मात्र बन जा। मैंने जो ये चार प्रकार बताये हैं, यह मत समझ कि इनमें कोई घटिया और कोई बढ़िया है। इनमें से जो पसन्द आवे, सध सके, उससे तू भक्ति का रस चख। ऐसा प्रतीत होता है कि ऊपर यम-नियम-प्राणायाम-आसनादि का जो मार्ग बताया है उसकी अपेक्षा श्रवण-भजन आदि ज्ञान-मार्ग सरल है, और उसकी अपेक्षा उपासना रूप ध्यान सरल है, और ध्यान की भी अपेक्षा कर्म-फल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही बात समानतया सरल नहीं होती। और किसी-किसी को तो

सब मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक-दूसरे में मिले हुए तो हैं ही। जहाँ-तहाँ से जैसे बने तुझे तो भक्त बनना है। जिस मार्ग से भक्ति सिद्ध होती हो उस मार्ग से उसे साध ले, भक्त किसे कहा जाय, यह भी मैं तुझे बताये देता हूँ। भक्त किसी का द्वेष न करे, किसी के प्रति वैर-भाव न रखे, जीवमात्र के साथ मैत्री स्थापित करे, जीवामत्र के प्रति करुणा का अभ्यास करे, इसके लिए ममता का त्याग करे। आप मिटकर शून्यवत् बन जाय, दुःख-सुख समान माने, कोई दोष करे तो उसे क्षमा दान करे यह सोचकर कि खुद भी अपने दोषों के लिए जगत् से क्षमा का भूखा है। सन्तोषी रहे, अपने शुभ निश्चयों से कभी न डिगे, मन और बुद्धि-सहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे, उससे लोगों को उद्वेग न हो, वे न डरें, वह स्वयं भी लोगों से न दुःख माने, न डरे, मेरा भक्त हर्ष-शोक-भय आदि से मुक्त रहे, उसे किसी प्रकार की इच्छा न हो, वह पवित्र हो, कुशल हो, उसने बड़े-बड़े आरामों का त्याग किया हो, निश्चय में दृढ़ रहता हुआ भी शुभ और अशुभ दोनों परिणामों का वह त्याग करे, अर्थात् उनके सम्बन्ध में निश्चिन्त रहे, उसके लिए कौन शत्रु और कौन मित्र? उसको क्या मान और क्या अपमान? वह तो मौन धारण करके जो मिला हो उसी में सन्तुष्ट रहे और एकाकी की भांति विचरता हुआ, सब स्थितियों में स्थिर रहे—इस प्रकार जो श्रद्धावान बनकर बरतते हैं वे मेरे प्रिय भक्त हैं।

यरवदा-मन्दिर, ४-११-३०]

पुरुषोत्तम के दर्शन अनन्य भक्ति से ही होते हैं, भगवान के इस वचन के बाद तो भक्ति का स्वरूप ही सामने आजाना चाहिए। यह बारहवाँ अध्याय सबको कंठ कर लेना चाहिए। यह एक छोटे-से-छोटा अध्याय है। इसमें दिये हुए भक्त के लक्षण नित्य मनन करने योग्य हैं।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरन्तर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूप का ध्यान धरते हैं उनमें से कौन योगी श्रेष्ठ माना जाय? १

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्री भगवान् बोले—

नित्य ध्यान करते हुए मुझमें मन लगा कर जो श्रद्धा से मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ । २

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवं ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सब इन्द्रियों को वश में रखकर, सर्वत्र समत्व का पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूप की उपासना करते हैं वे सारे प्राणियों के हित में लगे हुए मुझे ही पाते हैं । ३–४

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

जिनका चित्त अव्यक्त में लगा है उन्हें कष्ट अधिक है । अव्यक्त गति को देहधारी कष्ट से ही पा सकता है । ५

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है; पर उसके पास अमूर्त स्वरूप के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्द से

सन्तोष करना पड़ा । इसलिए मूर्तिपूजा का निषेध करनेवाले भी सूक्ष्मरीति से विचारा जाय तो मूर्तिपूजक ही होते हैं । पुस्तक की पूजा करना, मन्दिर में जाकर पूजा करना, एक ही दिशा में मुख रखकर पूजा करना, यह सभी साकार पूजा के लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेने में ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान् में विलीन हो जाय और अन्त में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जायँ । पर इस स्थिति को आकार-द्वारा सुलभता से पहुँचा जा सकता है। इसलिए निराकार को सीधा पहुँचने का मार्ग कष्टसाध्य कहा है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

परन्तु हे पार्थ ! जो मुझमें परायण रहकर सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक-निष्ठा से मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझ में जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मृत्युरूपी संसारसागर से मैं झट पार कर लेता हूँ । ६-७

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय मुझे ही पावेगा । ८

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

जो तू मुझमें अपना मन स्थिर करने में असमर्थ हो तो हे धनंजय ! अभ्यासयोग से मुझे पाने की इच्छा रखना । ९

अभ्यासेऽप्यसमार्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

ऐसा अभ्यास रखने में भी तू असमर्थ हो तो कर्ममात्र मुझे अर्पण कर, और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पावेगा । १०

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और जो मेरे निमित्त कर्म करनेभर की भी तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर । ११

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् १२

अभ्यासमार्ग से ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है । ज्ञानमार्ग से ध्यानमार्ग विशेष है । और ध्यानमार्ग से कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है । क्योंकि इस त्याग के अन्त में तुरन्त शान्ति ही होती है । १२

टिप्पणी—अभ्यास अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध की साधना। ज्ञान अर्थात् श्रवण मननादि। ध्यान अर्थात् उपासना। इनके फलस्वरूप यदि कर्मफलत्याग न दिखाई दे तो अभ्यास अभ्यास नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है और ध्यान ध्यान नहीं है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो प्राणीमात्र के प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममता-रहित, अहंकाररहित सुख-दुःख में समान, क्षमावान, सदा सन्तोषी, योगयुक्त, इन्द्रियनिग्रही और दृढ़निश्चयी है, और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है । १३-१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १५

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो इच्छा-रहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ है, चिन्ता-रहित है, संकल्पमात्र का जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। १६

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिन्ता नहीं करता, जो आशाएँ नहीं बांधता, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, वह भक्तिपरायण मुझे प्रिय है। १७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख,

इन सबमें जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निन्दा और स्तुति में समान भाव से वर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे जिसे सन्तोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, स्थिर चित्तवाला है, ऐसा मुनिभक्त मुझे प्रिय है। १८-१९

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

यह पवित्र अमृतरूप ज्ञान जो मुझमें परायण रहकर श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं। २०

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का भक्ति-नामक बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

[१३]

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

[सोमप्रभात

भगवान् बोले—

इस शरीर का दूसरा नाम क्षेत्र है, और इसे जाननेवाले का नाम क्षेत्रज्ञ। सब शरीरों में रहनेवाले मुझको क्षेत्रज्ञ समझ। और सच्चा ज्ञान वह है, जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जाना जा सके। पंच महाभूत, पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज, और वायु; अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दसों इन्द्रिय,—पाँच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय,—एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख संधान-अर्थात् जिन (तत्वों) का शरीर बना हुआ है उनकी एक होकर रहने की शक्ति, चेतन शक्ति, शरीर के परमाणुओं में एक-दूसरे से लगकर रहने का गुण,—यह सब मिलकर विकारों वाला क्षेत्र बना। यह शरीर और इसके विकार जान ले, क्योंकि उनका त्याग करना है। इस त्याग के लिए ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान अर्थात् अमानित्व या मान का त्याग, दम्भ का त्याग, अहिंसा क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयों पर अंकुश, विषयों के प्रति वैराग्य, अहंभाव का त्याग, जन्म-मृत्यु, बुढ़ापा और उससे लगे हुए रोग, दुःख, और नित्य होने वाले दोषों का पूरा भान, स्त्री-पुत्र, घर-बार सगे-

सम्बन्धी आदि से मन हटा लेना, और ममता छोड़ना, अपनी पसन्द की कोई बात हो, या ना-पसन्द की, उसके विषय में समता रखना, ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्त सेवन, लोगों में मिलकर भोग भोगने में अरुचि, आत्मा-विषयक ज्ञान की प्यास और अन्ततः आत्मदर्शन। इसका जो उलटा है, वह अज्ञान है। यह ज्ञान प्राप्त करके जो वस्तु जानने की होती है और जिसे जानने से मोक्ष मिलता है, उसके बारे में कुछ सुन, वह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है। अनादि है, क्योंकि उसे जन्म नहीं। जब कुछ भी न था तब भी वह परब्रह्म तो था ही। वह न सत् है और न असत् ही। वह उससे भी परे है। दूसरी दृष्टि से उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है, तो भी उसकी नित्यता को भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत् से भी परे कहा है। उससे कोई भी खाली—रिक्त—नहीं है। उसे हज़ारों हाथ-पैर वाला कह सकते हैं। और इस प्रकार यह भास होते हुए भी कि उसके हाथ-पैर आदि हैं, वह इन्द्रिय-रहित है। उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, इसलिए वह उनसे अलिप्त है। इन्द्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं। परब्रह्म तो नित्य है और यद्यपि सब में व्याप्त होकर और सबको धारण करके रहता है, इसलिए उसे गुणों का भोक्ता कह सकते हैं, तथापि वह गुण-रहित है। गुण का अर्थ ही विकार है। यह भी कहा जा सकता है कि वह प्राणियों के बाहर है, क्योंकि जो उसे नहीं पहचानते उनके लिए तो वह बाहर ही है। और प्राणियों के अन्दर तो है ही। क्योंकि सर्वव्यापक है। इसी

प्रकार वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इस कारण न जाना जाय, ऐसा है। दूर भी है, और नज़दीक भी है। नामरूप का नाश है। तो भी वह तो है ही। इस प्रकार वह अविभक्त है। पर यह भी कहा जाता है कि वह असंख्य प्राणियों में है, इसलिए विभक्त रूप में भी भास होता है। वह उत्पन्न करता है, पालन करता है, और वही मारता है। तेजों-का-तेज है। अंधकार से परे है। ज्ञान का अन्त उसमें आचुका है। इन सब में रहनेवाला परब्रह्म ही जानने-योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्र की प्राप्ति केवल उसे पाने के लिए ही हो।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादि से चले आये हैं। माया से विकार पैदा होते हैं। और उससे अनेक प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं। माया के कारण जीव सुख-दुःख पाप-पुण्य का भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहता और कर्त्तव्य-कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी पुनः जन्म नहीं लेता। क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वर को ही देखता है, और उसकी प्रेरणा के बिना एक पत्ता तक हिल नहीं सकता। यह समझकर वह अपने सम्बन्ध में 'अहं' भाव को मानता ही नहीं और अपने को शरीर से भिन्न देखता है और समझता है कि आकाश सर्वत्र होते हुए भी जैसे सूखा ही रहता है, वैसे ही जीव शरीर में होते हुए भी ज्ञान-द्वारा सूखा रह सकता है।

[यरवदा मन्दिर २६-१-३१

[१३]

इस अध्याय में शरीर और शरीरी का भेद बतलाया है।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है, और इसे जो जानता है उसे तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं। १

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

और हे भारत ! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान। मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही ज्ञान । २

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारवाला है, कहाँ से है, और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेप में सुन। ३

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

विविध छन्दों में, भिन्न-भिन्न प्रकार से और उदाहरण-युक्तियों-द्वारा, निश्चययुक्त ब्रह्मसूचक वाक्यों में ऋषियों ने इस विषय को बहुत गाया है। ४

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतनशक्ति, धृति—यह अपने विकारों-सहित क्षेत्र संक्षेप में कहा है। ५—६

टिप्पणी—महाभूत पांच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। अहङ्कार अर्थात् शरीर में रहने वाली अहंता, अहंपन। अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति। दस इन्द्रियों में पांच ज्ञानेन्द्रियां—नाक, कान, आँख, जीभ और चाम तथा पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुँह, और दो गुह्येन्द्रियां। पांच गोचर अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय—सूंघना, सुनना, देखना, चखना और छूना। संघात अर्थात् शरीर के तत्त्वों की परस्पर सहयोग करने की शक्ति। धृति अर्थात् धैर्य रूपी सूक्ष्म गुण नहीं किन्तु इस

शरीर के परमाणुओं का एक-दूसरे से सटे रहने का गुण। यह गुण अहंभाव के कारण ही सम्भव है और यह अहंता अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है। इस अहंता का मोहरहित मनुष्य जानकर त्याग करता है। और इस कारण मृत्यु के समय या दूसरे आघातों से वह दुःख नहीं पाता। ज्ञानी-अज्ञानी सबको, अन्त में तो, इस विकारी क्षेत्र का त्याग किये ही बनेगा।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों का निरन्तर

मान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझ में अनन्य ध्यानपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जनसमूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्म-दर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है। ७-८-९-१०-११

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जिसे जाननेवाले मोक्ष पाते हैं वह ज्ञेय क्या है, सो तुझसे कहूँगा। वह अनादि परब्रह्म है; वह न सत् कहा जासकता है, न असत् कहा जा सकता है। १२

टिप्पणी—ईश्वर को सत् या असत् भी नहीं कहा जा सकता। किसी एक शब्द से उसकी व्याख्या या परिचय नहीं हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

जहाँ देखो वहीं उसके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुँह और कान हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोक में विद्यमान है। १३

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सब इन्द्रियों के गुणों का आभास उसमें मिलता है तो भी वह स्वरूप इन्द्रियरहित और सबसे अलिप्त है, फिर भी वह सबको धारण करनेवाला है; वह गुणरहित होने पर भी गुणों का भोक्ता है। १४

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह भूतों के बाहर है और अन्दर भी है। वह गतिमान है और स्थिर भी है! सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है। वह दूर है और समीप है। १५

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अन्दर है। गति और स्थिरता, शान्ति और अशान्ति हम लोग अनुभव करते हैं, और सब भाव उसीमें से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

भूतों में वह अविभक्त है और विभक्त सरीखा भी विद्यमान है। वह जानने योग्य (ब्रह्म) प्राणियों का पालक, नाशक और कर्ता है। १६

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

वह ज्योतियों की भी ज्योति है. अन्धकार से वह परे कहा जाता है। ज्ञान वही है, जानने-योग्य वही है और ज्ञान से जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदय में मौजूद है। १७

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के विषय में मैंने संक्षेप में बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को पाने योग्य बनता है। १८

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान। विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, ऐसा जान। १९

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य और कारण का हेतु प्रकृति कही जाती है

और पुरुष सुख-दुःख के भोग में हेतु कहा जाता है। २०

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृति में रहनेवाला पुरुष प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों को भोगता है और यही गुणसंग भली-बुरी योनि में उसके जन्म का कारण बनता है। २१

टिप्पणी—प्रकृति को हम लोग लौकिक भाषा में माया के नाम से पुकारते हैं। पुरुष जीव है। माया अर्थात् मूल स्वभाव के वशीभूत हो जीव सत्त्व, रजस या तमस से होनेवाले कार्यों का फल भोगता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

इस देह में स्थित जो परम पुरुष है वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। २२

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी

प्रकृति को जानता है; वह सर्वप्रकार से कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता। २३

टिप्पणी—२, ६, १२ और अन्यान्य अध्यायों की सहायता से हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचार का समर्थन करने वाला नहीं है वरन् भक्ति की महिमा बतलाने वाला है। कर्ममात्र जीव के लिए बन्धन-कर्ता हैं, किन्तु यदि वह सब कर्म परमात्मा को अर्पण कर दे तो वह बन्धन-मुक्त हो जाता है। और इस प्रकार जिसमें से कर्तृत्वरूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो अन्तर्यामी को चौबीसों घंटे पहचान रहा है वह पापकर्म कर ही नहीं सकता। पाप का मूल ही अभिमान है। जहाँ "मैं" नहीं है वहाँ पाप नहीं है। यह श्लोक पाप कर्म न करने की युक्ति बतलाता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥

कोई ध्यानमार्ग से आत्माद्वारा आत्मा को अपने में देखता है। कितने ही ज्ञानमार्ग से और दूसरे कितने ही कर्ममार्ग से। २४

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥२५॥

और कोई इन मार्गों को न जानने के कारण दूसरों से परमात्मा के विषय में सुनकर, सुने हुए पर श्रद्धा रखकर और उसमें परायण रहकर उपा-

सना करते हैं और वे भी मृत्यु को तर जाते हैं। २५

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

जो-कुछ वस्तु चर या अचर उत्पन्न होती है वह हे भरतर्षभ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के, अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होती है, ऐसा जान। २६

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२७॥

समस्त नाशवान प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को समभाव से मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है। २७

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

ईश्वर को सर्वत्र समभाव से अवस्थित जो मनुष्य देखता है वह अपने आपका घात नहीं करता और इससे वह परम गति पाता है। २८

टिप्पणी—समभाव से अवस्थित ईश्वर को देखनेवाला आप उसमें विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नहीं देखता। इससे विकारवश न होकर मोक्ष पाता है। अपना शत्रु नहीं बनता।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

'सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्मा को अकर्तारूप जानता है वही जानता है । २९

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्य का आत्मा निद्रा का कर्ता नहीं है, किन्तु प्रकृति निद्रा का कर्म करती है। निर्विकार मनुष्य के नेत्र कोई गन्दगी नहीं देख सकते । प्रकृति व्यभिचारिणी नहीं है। अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उसके संग से विषय-विकार उत्पन्न होते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब वह जीवों का अस्तित्व पृथक् होने पर भी एक में ही स्थित देखता है और इसलिए सारे विस्तार को उसी से उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्म को पाता है । ३०

टिप्पणी—अनुभव से सब-कुछ ब्रह्म में ही देखना ब्रह्म को प्राप्त करना है। उस समय जीव शिव से भिन्न नहीं रह जाता ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौन्तेय ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहता हुआ भी

न कुछ करता और न किसी से लिप्त होता है। ३१

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे सारी देह में रहनेवाला आत्मा लिप्त नहीं होता। ३२

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगत को प्रकाश देता है, वैसे हे भारत ! क्षेत्री समूचे क्षेत्र को प्रकाशित करता है। ३३

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद और प्रकृति के बन्धन से प्राणियों की मुक्ति कैसे होती है; यह जानता है वह ब्रह्म को पाता है। ३४

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[१४]

गुणत्रयविभागयोग

[मंगल-प्रभात

श्रीभगवान् बोले—

जिस उत्तम ज्ञान को पाकर ऋषि-मुनियों ने परम सिद्धि पाई है, वह मैं फिर से तुझे कहता हूँ। उस ज्ञान को पाकर और तदनुसार धर्म को आचरण करके लोग जन्म-मरण के चक्कर से बचते हैं। हे अर्जुन, यह जान ले कि मैं जीवमात्र का माता-पिता हूँ। प्रकृति-जन्य तीन गुण सत्, रजस् और तमस् देही को बाँधने वाले हैं। इन गुणों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ट भी कह सकते हैं। इनमें सत्त्वगुण निर्मल और निर्दोष है और प्रकाश देनेवाला है। इसलिए उसकी संगति सुखद सिद्ध होती है। रजस् की उत्पत्ति राग और तृष्णा से होती है, इसलिए वह मनुष्य को धाँधली में डाल देता है। तमस् का मूल अज्ञान है, मोह है, उससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अतएव संक्षेप में कहें तो सत्त्व से सुख, रजस् से धाँधली और तमस् से आलस्य पैदा होते हैं। रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्व विजयी होता है। देह के सब व्यापारों में जब ज्ञान का अनुभव पाया जाय तब समझना चाहिए कि उसमें सत्त्व

गुण प्रधानतया काम कर रहा है। जहाँ लोभ, धाँधली, अशान्ति, स्पर्धा पाई जाय, वहाँ रजस् की वृद्धि समझनी चाहिए। और जहाँ अज्ञान, आलस्य, मोह का अनुभव हो, वहाँ तमस् का राज्य समझना चाहिए। जिसके जीवन में सत्त्व गुण प्रधान होता है, वह मरने के बाद ज्ञानमय निर्दोष लोक में जन्म लेता है। रजस् प्रधान होने पर धांधली लोक—मनुष्य लोक में आता है, और तमस् प्रधान होने पर मूढ़ योनि में जन्म लेता है। सात्त्विक कर्म का फल निर्मल, राजसी का दुःखमय और तामसी का अज्ञानपूर्ण होता है। सात्त्विक लोक की गति उच्च, राजसी की मध्यम और तामसी की अधम होती है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि गुणों के सिवा अन्य कोई कर्ता नहीं है, और गुणों से परे मैं हूँ तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है। देह में वर्तमान इन तीन गुणों को जो देही पार कर जाता है, वह जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों को पार करके अमृतमय मोक्ष पाता है। इसपर अर्जुन पूछता है कि जब गुणातीत की ऐसी सुन्दर गति होती है, तो उसके लक्षण क्या हैं, और उसका आचरण कैसा है, और वह तीनों गुणों को पार कैसे कर लेता है? भगवान् उत्तर देते हैं—जब मनुष्य अपने ऊपर जो-कुछ भी आ पड़े—फिर भले वह प्रकाश हो, प्रवृत्ति हो, या मोह हो;—ज्ञान हो, धाँधली हो, या अज्ञान—उसके लिए दुःख या सुख नहीं मानता, या इच्छा नहीं करता, या जो गुणों के सम्बन्ध में तटस्थ रह कर डाँवाडोल नहीं होता, जो यह समझकर कि

गुण अपना कार्य करते ही रहते हैं स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख को समान समझता है, जिसे लोहा या पत्थर या सोना समान हैं, जिसे न कुछ प्रिय है न अप्रिय, जिसपर निंदा या स्तुति का कोई असर नहीं होता, जो मान और अपमान को समान समझता है, जो शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है, जिसने सब आरंभों का त्याग किया है, वह गुणातीत कहलाता है। इन लक्षणों को सुनकर चौंकने या आलसी बनकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठने की आवश्यकता नहीं है। मैंने तो सिद्ध की दशा बताई है। उस तक पहुँचने का मार्ग यह है—व्यभिचार-रहित भक्ति-योग-द्वारा मेरी सेवा कर। तीसरे अध्याय के शुरू से तुझे यह बताया है कि कर्म के बिना, प्रवृत्ति के बिना कोई साँस भी नहीं ले सकता। अतएव कर्म तो देही मात्र के पीछे पड़े ही हैं। जो साधक गुणों से परे पहुँचना चाहता है, उसे सब कर्म मेरे अर्पण करने चाहिएँ। और फल की इच्छा तक न रखनी चाहिए। ऐसा करने से उसे उसके कर्म बाधक न होंगे, क्योंकि ब्रह्म मैं हूँ, मोक्ष मैं हूँ, अनन्त सुख मैं हूँ, जो कहो, सो मैं हूँ। मनुष्य शून्यवत् बने तो सब जगह मुझे ही देखे—तब वह गुणातीत है।"

[यरवदा मन्दिर ६-३-३२

[१४]

गुणमयी प्रकृति का थोड़ा परिचय कराने के बाद स्वभावतः तीनों गुणों का वर्णन इस अध्याय में आता है। और यह करते हुए गुणातीत के लक्षण भगवान् गिनाते हैं। दूसरे अध्याय में जो लक्षण स्थितप्रज्ञ के दिखाई देते हैं, बारहवें में जो भक्त के दिखाई देते हैं, वह इसमें गुणातीत के हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—

ज्ञानों में जो उत्तम ज्ञान अनुभव करके सब मुनियों ने यह शरीर छोड़ने पर परम गति पाई है वह मैं तुमसे फिर कहूँगा। १

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जिन्होंने मेरा भाव प्राप्त किया है उन्हें उत्पत्तिकाल में जन्मना नहीं पड़ता और प्रलयकाल में व्यथा भोगनी नहीं पड़ती। २

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है । उसमें मैं गर्भाधान करता हूँ और उससे प्राणी-मात्र की उत्पत्ति होती है । ३

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौन्तेय ! सब योनियों में जिन-जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति का स्थान मेरी प्रकृति है और उसमें बीजारोपण करनेवाला पिता—पुरुष मैं हूँ । ४

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहो ! सत्त्व, रजस् और तमस्, प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले गुण हैं । वे अविनाशी देहधारी—जीव— को देह के सम्बन्ध में बाँधते हैं । ५

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक

और आरोग्यकर है, और हे अनघ ! वह देही को सुख और ज्ञान के सम्बन्ध में बाँधता है। ६

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

हे कौन्तेय ! रजोगुण रागरूप होने से तृष्णा और आसक्ति का मूल है। वह देहधारी को कर्म-पाश में बाँधता है। ७

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

हे भारत ! तमोगुण अज्ञानमूलक है। वह देह-धारीमात्र को मोह में डालता है और वह असावधानी, आलस्य तथा निद्रा के पाश में देही को बाँधता है। ८

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

हे भारत ! सत्त्व आत्मा को शान्तिसुख का संग कराता है, रजस् कर्म को और तमस् ज्ञान को ढककर प्रमाद का संग कराता है। ९

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है। सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस्, और सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् ऊपर आता है। १०

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

सब इन्द्रियोंद्वारा इस देह में जब प्रकाश और ज्ञान का उद्भव होता है तब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई जानना चाहिए। ११

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा का उदय होता है। १२

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन ! जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। १३

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

अपने में सत्त्वगुण की वृद्धि हुई हो उस समय देहधारी मरे तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोक को पाता है । १४

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण में मृत्यु हो तो देहधारी कर्मसंगी के लोक में जन्मता है और तमोगुण में मृत्यु पानेवाला मूढ़योनि में जन्मता है । १५

टिप्पणी—कर्मसंगी से तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढ़योनि से तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल होता है । राजसी कर्म का फल दुःख होता है और तामसी कर्म का फल अज्ञान होता है । १६

टिप्पणी—जिसे हमलोग सुख-दुःख मानते हैं उस सुखदुःख का उल्लेख यहाँ नहीं समझना चाहिए । सुख से मतलब है आत्मानन्द, आत्मप्रकाश । इससे जो उलटा है वह दुःख है । १७ वें श्लोक में यह स्पष्ट हो जाता है ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुण में से ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुण-में से लोभ और तमोगुण में से असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है । १७

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

सात्विक मनुष्य ऊँचे चढ़ते हैं, राजसी मध्य में रहते हैं और अन्तिम गुणवाले तामसी अधोगति पाते हैं । १८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

ज्ञानी जब ऐसा देखता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है और जो गुणों से परे है उसे जानता है तब वह मेरे भाव को पाता है। १९

टिप्पणी—गुणों को कर्ता माननेवाले को अहंभाव होता ही नहीं है। इससे उसके काम सब स्वाभाविक और शरीरयात्रा भरके लिए होते हैं। और शरीरयात्रा परमार्थ के लिए ही होती है, इसलिए उसके सारे कामों में निरन्तर त्याग और वैराग्य होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणों से परे निर्गुण ईश्वर की भावना करता और उसे भजता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देह के संग से उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणों को पार करके देहधारी जन्म, मृत्यु और जरा के दुःख से छूट जाता है और मोक्ष पाता है। २०

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले—

हे प्रभो ! इन गुणों को तर जानेवाला किन लक्षणों से पहचाना जाता है ? उसके आचार क्या होते हैं ? और वह तीनों गुणों को किस प्रकार पार करता है ? २१

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

श्री भगवान् बोले—

हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर जो दुःख नहीं मानता और इनके प्राप्त न होने पर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीन की भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुख-दुःख में समतावान रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेपर एक-समान रहता है, ऐसा बुद्धिमान जिसे अपनी निन्दा या स्तुति समान है जिसे मान और अपमान समान हैं, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष में समान भाव रखता है और जिसने समस्त आरम्भों का त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है । २२-२३-२४-२५

टिप्पणी—२२ से २५ श्लोक तक एक साथ विचारने योग्य हैं । प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोक में कहे अनुसार क्रम से

सत्त्व, रजस् और तमस् के परिणाम अथवा चिह्न हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो गुणों को पार कर गया है उसपर इस परिणाम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पत्थर प्रकाश की इच्छा नहीं करता, न प्रवृत्ति या जड़ता का द्वेष करता है; उसे बिना चाहे शान्ति है। उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति दिये पीछे उसे ठहरा करके रख देता है, तो इससे, प्रवृत्ति—गति बन्द हो गई, मोह, जड़ता प्राप्त हुई, ऐसा सोचकर वह दुःखी नहीं होता, वरन् तीनों स्थितियों में वह एक समान बर्तता है। पत्थर और गुणातीत में अन्तर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणों के परिणामों का, स्पर्श का त्याग किया है और जड़ पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणों का अर्थात् प्रकृति के कार्यों का साक्षी है पर कर्ता नहीं है, वैसे ही ज्ञानी उसका साक्षी रहता है, कर्ता नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानी के सम्बन्ध में यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३ वें श्लोक के कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते हैं', यह मानता हुआ विचलित नहीं होता और अचल रहता है; उदासीन-सा रहता है—अडिग रहता है। यह स्थिति गुणों में तन्मय हुए हमलोग धैर्यपूर्वक केवल कल्पना करके समझ सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु उस कल्पना को दृष्टि में रखकर हम "मैं" पने को दिन-दिन घटाते जायँ तो अन्त में गुणातीत की अवस्था के समीप पहुँचकर उसकी झाँकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थिति अनुभव करता है, वर्णन नहीं कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहज में अनुभव कर सकते हैं वह शान्ति, प्रकाश, 'धांधल'—अर्थात् प्रवृत्ति और जड़ता—मोह है। गीता में स्थान-

स्थान पर इसे स्पष्ट किया है कि सात्त्विकता गुणातीत के समीप से समीप की स्थिति है। इसलिए मनुष्यमात्र का प्रयत्न सत्त्वगुण का विकास करने का है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो एकनिष्ठ भक्तियोग-द्वारा मेरी सेवा करता है वह इन गुणों को पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य होता है। २६

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।१४।

और ब्रह्म की स्थिति मैं ही हूँ, शाश्वत मोक्ष की स्थिति मैं हूँ। वैसे सनातन धर्म की और उत्तम सुख की स्थिति भी मैं ही हूँ। २७

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[१५]

पुरुषोत्तमयोग

[सोमप्रभात

श्री भगवान् बोले—

"इस संसार को दो तरह देखा जा सकता है। एक वह जिसका मूल ऊपर है, शाखा नीचे है, और जिसके वेद-रूपी पत्ते हैं, ऐसे पीपल के रूप में जो संसार को देखता है, वह वेद का जानकार ज्ञानी है। दूसरा तरीक़ा यह है—संसार-रूपी वृक्ष की शाखा ऊपर-नीचे फैली हुई है। उसमें तीन गुणों से बढ़े हुए विषय-रूपी अंकुर हैं और वे विषय जीव को मनुष्य-लोक में कर्म के बन्धन से बाँधते हैं। न तो इस वृक्ष का स्वरूप जाना जा सकता है, न इसका आरम्भ है न अन्त, और न ठिकाना। यह दूसरे प्रकार का संसार-वृक्ष है। यद्यपि इसने जड़ तो बराबर जमाई है, तथापि इसे असहयोगरूपी शस्त्र-द्वारा काटना है, जिससे आत्मा उस लोक में पहुँचे, जहाँ से उसे लौटने की ज़रूरत न रहे, ऐसा करने के लिए वह निरंतर उस आदि पुरुष को भजे जिसकी माया-द्वारा यह पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है।

जिन्होंने मान, मोह छोड़ दिये हैं, जिन्होंने संग-दोषों को जीत लिया है, जो आत्मा में लीन हैं, जो विषयों से छूट

चुके हैं, जिन्हें सुख-दुःख समान हैं, वे ज्ञानी अव्यय पद को पाते हैं। उस जगह न तो सूर्य को, न चन्द्र को और न अग्नि को प्रकाश करने की ज़रूरत होती है। जहाँ जाने के बाद फिर लौटना नहीं पड़ता, वह मेरा परमस्थान है।

जीवलोक में मेरा सनातन अंश जीवरूप में प्रकृति की मन-सहित छः इन्द्रियों को आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और छोड़ता है, तब जैसे वायु अपने स्थान से गंधों को साथ लेकर घूमा करता है, वैसे ही यह जीव भी इन्द्रियों को साथ लेकर घूमा करता है। कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन, इनका आश्रय लेकर जीव विषयों का सेवन करता है। मोह में पड़े हुए अज्ञानी इस गुणोंवाले जीव को चलते, स्थिर रहते या भोग भोगते हुए पहचानते नहीं। ज्ञानी यह पहचानते हैं। यत्नशील योगी अपने में रहनेवाले इस जीव को पहचानते हैं; लेकिन जिन्होंने समभाव रूपी योग को सिद्ध नहीं किया है, वे यत्न करने पर भी उसे नहीं पहचानते। सूर्य का जो तेज जगत् को प्रकाशित करता है, जो चन्द्र में है, जो अग्नि में है, उस सब को मेरा तेज समझो। अपनी शक्ति-द्वारा शरीर में प्रवेश करके मैं जीवों को धारण करता हूँ। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर औषधिमात्र का पोषण करता हूँ। प्राणियों की देह में रहकर मैं जठराग्नि बनता और प्राणअपानवायु को समान बनाकर चारों प्रकार का अन्न पचाता हूँ। सब हृदयों में मैं रहता हूँ; मेरे कारण ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है; सब वेदों-द्वारा जानने योग्य मैं हूँ; वेदान्त भी मैं

हूँ। वेद जाननेवाला भी मैं हूँ। कह सकते हैं कि इस लोक में दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर अर्थात् नाशवान् और नाश-रहित। इसमें जीव क्षर हैं और उनमें रहनेवाला मैं अक्षर और उससे भी परे उत्तम पुरुष है, वह परमात्मा कहलाता है वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश कर उनका पालन करता है। वह ईश्वर भी मैं हू। इसलिए मैं क्षर और अक्षर से भी उत्तम हूँ। और लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूँ। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तम रूप में पहचानता है वह सब-कुछ जानता है, और सब भावों-द्वारा मुझे भजता है। हे निष्पाप अर्जुन! यह अति गुह्य शास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान बनता और अपने ध्येय को पहुँचता है।"

[१५]

इस अध्याय में भगवान् ने क्षर और अक्षर से परे अपना उत्तम स्वरूप समझाया है।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—

जिसका मूल ऊँचे है, जिसकी शाखा नीचे है और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष का बुद्धिमान लोगों ने वर्णन किया है; इसे जो जानते हैं वे वेद के जाननेवाले ज्ञानी हैं। १

टिप्पणी—'श्वः' का अर्थ है आनेवाला कल। इसलिए अश्वत्थ का मतलब है आगामी कलतक न टिकनेवाला क्षणिक संसार। संसार का प्रतिक्षण रूपान्तर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है। परन्तु ऐसी स्थिति में वह सदा रहनेवाला है और उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इसलिए वह अविनाशी है। उसमें यदि वेद अर्थात् धर्म के शुद्ध ज्ञान रूपी पत्ते न हों तो वह शोभा नहीं दे सकता। इस प्रकार संसार का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्म को जाननेवाला है वह ज्ञानी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसंततानि

कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

गुणों के स्पर्शद्वारा बढ़ी हुई और विषयरूपी कोंपलोंवाली उस अश्वत्थ की डालियां नीचे-ऊपर फैली हुई हैं और कर्मों का बन्धन करनेवाली उसकी जड़ें मनुष्यलोक में नीचे फैली हुई हैं। २

टिप्पणी—यह संसार-वृक्ष का अज्ञानी की दृष्टिवाला वर्णन है। उसका ऊंचे ईश्वर में रहनेवाला मूल वह नहीं देखता, बल्कि विषयों की रमणीयता पर मुग्ध रह कर, तीनों गुणों-द्वारा इस वृक्ष का पोषण करता है और मनुष्यलोक में कर्मपाश में बंधा रहता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं

यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

उसका यथार्थ स्वरूप देखने में नहीं आता। उसका अन्त नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है। खूब गहराई तक गई हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थ वृक्ष को असंगरूपी बलवान शस्त्र से काटकर मनुष्य यह प्रार्थना करे—"जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है उस आदि पुरुष की मैं शरण जाता हूँ।" और उस पद को खोजे जिसे पानेवाले को पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़ना नहीं पड़ता।३-४

टिप्पणी—असंग से मतलब है असहयोग, वैराग्य। जबतक मनुष्य विषयों से असहयोग न करे, उनके प्रलोभनों से दूर न रहे तबतक वह उनमें फँसता ही रहेगा। इस श्लोक का आशय यह है कि विषयों के साथ खेल खेलना और उनसे अछूते रहना अनहोनी बात है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥५॥

जिसने मान-मोह का त्याग किया है, जिसने आसक्ति से होनेवाले दोषों को दूर किया है, जो आत्मा में नित्य निमग्न है, जिसके विषय शान्त हो गये हैं, जो सुख-दुःख-रूपी द्वन्द्वों से मुक्त है, वह ज्ञानी अविनाशीपद पाता है। ५

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

वहाँ सूर्य को, चन्द्र को या अग्नि को प्रकाश देना नहीं पड़ता। जहाँ जानेवाले को फिर जन्मना नहीं होता वह मेरा परमधाम है। ६

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा ही सनातन अंश जीव-लोक में जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली पाँच इन्द्रियों को और मन को आकर्षित करता है। ७

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

(जीव बना हुआ यह मेरा अंशरूपी) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोड़ता है तब यह उसी तरह (मन के साथ इन्द्रियों को) ले जाता है, जैसे वायु आस-पास के मण्डल में से गन्ध को साथ ले जाती है। ८

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

और वह कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है। ९

टिप्पणी—यहाँ 'विषय' शब्द का अर्थ बीभत्स विलास से नहीं है, बल्कि प्रत्येक इन्द्रिय की स्वाभाविक क्रिया है; जैसे आंख का विषय है देखना, कान का सुनना, जीभ का चखना। ये क्रियाएँ जब विकारवाली—अहंभाववाली—होती हैं तब दूषित—बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती हैं तब वे निर्दोष हैं। बच्चा आँख से देखता या हाथ से छूता हुआ विकार नहीं पाता, इसलिए नीचे के श्लोक में कहते हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

(शरीर का) त्याग करने वाले या उसमें रहने वाले अथवा गुणों का आश्रय लेकर भोग भोगने-वाले (इस अंशरूपी ईश्वर) को, मूर्ख नहीं देखते किन्तु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते हैं। १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्न करनेवाले योगीजन अपने-आपमें स्थित (इस ईश्वर) को देखते हैं। जिन्होंने आत्म-शुद्धि नहीं की है ऐसे मूढ़ जन यत्न करते हुए भी इसे

नहीं पहचानते । ११

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्याय में दुराचारी को भगवान् ने जो वचन दिया है उसमें विरोध नहीं है । अकृतात्मा से तात्पर्य हैं भक्तिहीन, स्वेच्छाचारी, दुराचारी । जो नम्रतापूर्वक श्रद्धा से ईश्वर को भजता है वह आत्मशुद्ध होता है और ईश्वर को पहचानता है । जो यमनियमादि की परवाह न कर केवल बुद्धिप्रयोग से ईश्वर को पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्त से रहित, राम से रहित राम को नहीं पहचान सकते ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्य में विद्यमान जो तेज समूचे जगत को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्र में तथा अग्नि में विद्यमान है वह मेरा है, ऐसा जान । १२

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः १३

पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से मैं प्राणियों को धारण करता हूँ और रस उत्पन्न करने-वाला चन्द्र बनकर समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूँ । १३

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायु-द्वारा मैं चार प्रकार का अन्न पचाता हूँ। १४

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सब के हृदयों में विद्यमान मेरे द्वारा स्मृति, ज्ञान, और इनका अभाव होता है। समस्त वेदों-द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, वेदों का जाननेवाला मैं हूँ, वेदान्त का प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूँ। १५

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो पुरुष हैं। भूतमात्र क्षर हैं और उनमें स्थिर अन्तर्यामी को अक्षर कहते हैं। १६

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इसके सिवा उत्तम पुरुष और है। वह परमात्मा कहलाता है। यह अव्यय ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश करके उनका पोषण करता है। १७

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षर से परे और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिए वेदों और लोकों में पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ। १८

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत ! मोह-रहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभाव से भजता है। १९

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।२०।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

हे अनघ ! यह गुह्य से गुह्य शास्त्र मैंने तुझ से

कहा। हे भारत ! इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे। २०

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[१६]

दैवासुरसंपद्विभागयोग

श्री भगवान कहते हैं—

अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्ति का भेद बताता हूँ। धर्मवृत्ति के सम्बन्ध में तो पहले बहुत कह चुका हूँ, फिर भी उसके लक्षण कहे देता हूँ। जिसमें धर्म-वृत्ति होती है, उसमें निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान, समता, इन्द्रियदमन, दान, यज्ञ, शास्त्रों का अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की चुगली न खाना, अपैशुनता, भूतमात्र पर दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अन्तर और बाहर का चोखापन, अद्रोह और निरभिमान होता है। जिसमें अधर्मवृत्ति होती है उसमें दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान पाये जाते हैं। धर्मवृत्ति मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति उसे बन्धन में डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जन्मा है। अधर्मवृत्ति को थोड़े विस्तार से कहूँगा, जिससे लोग सहज ही इसका त्याग करें।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद नहीं जानता। उसे शुद्ध-अशुद्ध या सत्य-असत्य का ज्ञान नहीं

होता। उसके आचरण का तो फिर ठिकाना ही क्या? उसके ख़याल में जगत् झूठा-निराधार है। जगत् का कोई नियंता नहीं, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ही उसका जगत् है, अर्थात् उसमें विषय-भोग को छोड़कर और कोई विचार ही नहीं होता। ऐसी वृत्तिवाले के काम भयानक होते हैं। उसकी मति मंद होती है। ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारों को पकड़े रहते हैं और जगत् के नाश के लिए ही उनकी सारी प्रवृत्ति होती है। उनकी कामनाओं का अन्त ही नहीं होता। वे दंभ, मान, मद में मस्त रहते हैं। इस कारण उनकी चिन्ता का भी पार नहीं रहता। उन्हें नित नये भोगों की आवश्यकता होती है, वे सैकड़ों आशाओं के गढ़ उठाते हैं और अपनी कामनाओं के पोषण के लिए धन बटोरने में तो वे न्याय-अन्याय का भेद ही नहीं रखते। आज यह पाया, कल यह दूसरा प्राप्त कर लूँगा, इस शत्रु को आज मारा, कल दूसरों को मारूँगा, मैं बलवान हूँ, मेरे पास ऋद्धि-सिद्धि है, मेरे समान दूसरा कौन है, कीर्ति कमाने के लिए यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और मौज करूँगा, इस प्रकार मन ही मन वे फूले फिरते हैं, और आखिर मोह-जाल में फंसकर नरक-वास भोगते हैं। ये आसुरी लोग अपने घमण्ड में रह कर, परनिन्दा करके सर्वव्यापक ईश्वर का द्वेष करते हैं, और इस कारण ये बारम्बार आसुरी योनि में जन्मा करते हैं।

आत्मा का नाश करने वाले इस नरक के तीन दरवाज़े हैं—काम, क्रोध, लोभ। सब को इन तीनों का त्यागा

करना चाहिए। इनका त्याग करने वाले कल्याण-मार्ग पर जानेवाले होते हैं और वे परमगति पाते हैं। जो अनादि सिद्धान्तरूपी शास्त्र का त्याग कर स्वेच्छा से भोग में लीन रहते हैं, वे न तो सुख पाते हैं, न कल्याण-मार्ग की शान्ति ही प्राप्त करते हैं। इसलिए कार्य-आकार्य का निर्णय करने में अनुभवियों से अविचल सिद्धान्त जान लेने चाहिएँ और तदनुसार आचार-विचार बनाने चाहिए।"

इस अध्याय में दैवी और आसुरी संपद् का वर्णन है ।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान् बोले—

हे भारत ! अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान—इतने गुण उसमें होते हैं जो दैवी संपत् को लेकर जन्मा है । १-२-३

टिप्पणी—दम अर्थात् इन्द्रियनिग्रह, अपैशुन अर्थात् किसी की चुगली न खाना, अलोलुपता अर्थात् लालसा न रखना—लम्पट

न होना, तेज अर्थात् प्रत्येक प्रकार की हीन वृत्ति का विरोध करने का जोर, अद्रोह अर्थात् किसी का बुरा न चाहना या करना।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, हे पार्थ ! इतने दोष आसुरी संपत् लेकर जन्मनेवालों में होते हैं। ४

टिप्पणी—जो अपने में नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखंड है; दर्प माने बड़ाई, पारुष्य का अर्थ है कठोरता।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचःसंपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी संपत् मोक्ष देनेवाली और आसुरी (संपत्) बन्धन में डालने वाली मानी गई है। हे पाण्डव ! तू विषाद मत कर। तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है। ५

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है—दैवी और आसुरी। हे पार्थ ! दैवी का विस्तार से वर्णन किया। आसुरी का (अब) सुन। ६

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

असुर लोग यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है । वैसे ही उन्हें शौच का, आचार का और सत्य का भान नहीं है । ७

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं--जगत असत्य, निराधार और ईश्वर-रहित है । केवल नर-मादा के संबंध से हुआ है । उसमें विषय-भोग के सिवा और क्या हेतु हो सकता है ? ८

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

भयंकर काम करनेवाले, मन्दमति, दुष्टगण इस अभिप्राय को पकड़े हुए जगत् के शत्रु, उसके नाश के लिए उमड़ते हैं । ९

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

तृप्त न होनेवाली कामनाओं से भरपूर, दम्भी,

मानी, मदान्ध, अशुभ निश्चय वाले, मोह से दुष्ट इच्छायें ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं। १०

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

प्रलय पर्यन्त अन्त ही न होने वाली ऐसी अपरिमित चिन्ता का आश्रय लेकर, कामों के परम भोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', यह निश्चय करनेवाले, सैकड़ों आशाओं के जाल में फँसे हुए, कामी, क्रोधी विषय-भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करना चाहते हैं। ११-१२

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः १५

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा करूँगा; इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा, इस शत्रु को तो मारा, दूसरे को भी मारूँगा; मैं सर्वसम्पन्न हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान हूँ, सुखी हूँ; मैं श्रीमान् हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा; दान दूँगा, मौज करूँगा,—अज्ञान से मूढ़ हुए लोग ऐसा मानते हैं और अनेक भ्रान्तियों में पड़े, मोहजाल में फँसे, विषयभोग में मस्त हुए अशुभ नरक में गिरते हैं। १३-१४-१५-१६

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने को बड़ा माननेवाले, अकड़बाज, धन तथा मान के मद में मस्त हुए (यह लोग) दम्भ से और विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं। १७

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय

लेने वाले, निन्दा करने वाले और उनमें तथा दूसरों में रहनेवाला जो मैं, उसका वे द्वेष करनेवालेहैं। १८

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१६॥

इन नीच, द्वेषी, क्रूर, अमंगल नराधमों को मैं इस संसार की अत्यन्त आसुरी योनि में ही वारम्बार डालता हूँ। १९

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् २०

हे कौन्तेय! जन्म-जन्म आसुरी योनि को पाकर और मुझे न पाने से ये मूढ़ लोग इससे भी अधिक अधम गति पाते हैं। २०

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् २१

आत्मा का नाश करनेवाले नरक का यह त्रिविध द्वारा है—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए मनुष्य को इन तीनों का त्याग करना चाहिए। २१

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौन्तेय ! इस त्रिविध नरकद्वार से दूर रहने-वाला मनुष्य आत्मा के कल्याण का आचरण करता है, और इससे परम गति को पाता है। २२

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् २३

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छा से भोगों में लीन होता है वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परमगति पाता है। २३

टिप्पणी—शास्त्रविधि का अर्थ धर्म के नाम से माने जानेवाले ग्रन्थों में बताई-हुई अनेक क्रियाएँ नहीं, बल्कि अनुभव-ज्ञानवाले सत्पुरुषों का दिखाया हुआ संयम मार्ग है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

इसलिए कार्य और अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रविधि क्या है यह जानकर यहाँ तुझे कर्म करना उचित है। २४

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है वही अर्थ शास्त्र का यहाँ भी है। सब को निज-निज के नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न बनना चाहिए, बल्कि धर्म के अनुभवी के वाक्य को प्रमाण मानना चाहिए, यह इस श्लोक का आशय है।

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[१७]

श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन पूछते हैं—

जो शिष्टाचार छोड़कर, लेकिन श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी क्या गति होती है? भगवान् उत्तर देते हैं —श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्विक, राजसी या तामसी। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा वह बनता है। सात्विक मनुष्य देव को, राजस यक्ष-राक्षस को और तामस भूत-प्रेत को भजते हैं। लेकिन यकायक यह नहीं जाना जा सकता कि किस की श्रद्धा कैसी है। इसके लिए यह जानना चाहिए कि उसका आहार कैसा है, तप कैसा है, यज्ञ कैसा है। और इन सबके भी तीन प्रकार हैं, सो भी कहे देता हूँ। जिस आहार से आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है, वह आहार सात्विक है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है, वह राजस है, और उससे दुःख और रोग पैदा होते हैं। जो रांधा हुआ आहार बासी, बदबूदार, जूठा या और किसी तरह अपवित्र होता है, उसे तामस समझो। जिस यज्ञ के करने में फल की इच्छा नहीं, जो कर्तव्य रूप में तन्मयता से किया जाय, वह सात्विक है। जिसमें फल की आशा है, और दम्भ भी है उसे राजसी यज्ञ समझो। जिसमें कोई विधि नहीं, कुछ उत्पन्न नहीं, कोई मन्त्र नहीं, कोई त्याग नहीं, वह यज्ञ तामसी है। जिसमें संतों की पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्मग्रन्थ का अभ्यास वाचिक तप है। मन की

प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना, मानसिक तप है। जो समभाव से फल की इच्छा छोड़कर इस प्रकार का शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप करता है, उसका तप सात्विक कहलाता है। जो तप मान की आशा से, दंभ-पूर्वक किया जाय, उसे राजसी समझो। और जो तप पीड़ा पाकर, दुराग्रह से, या पराये का नाश करने के लिए किया जाय, जिससे शरीर में रहनेवाली आत्मा को निरर्थक क्लेश हो, वह तप तामसी है। 'देना चाहिए' इसलिए, फल की इच्छा के बिना, देश, काल, पात्र, देखकर दिया गया दान सात्विक है। जिसमें बदले की आशा है, और जिसे देते हुए संकोच होता है, वह दान राजसी है। देश-काल आदि का विचार किये बिना, तिरस्कार के साथ या असम्मानपूर्वक दिया गया दान तामसी है।

वेदोंने ब्रह्म का वर्णन 'ॐ तत्सत्' रूप में किया है। इसलिए श्रद्धालु यज्ञ, दान, तप, आदि क्रियां इसके उच्चारण पूर्वक करें। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म, तत् अर्थात् वह, सत् अर्थात् सत्य, कल्याण रूप; अर्थात् ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है, वही कल्याण करनेवाला है। जो इस प्रकार की भावना रखकर ईश्वरार्पण बुद्धि से यज्ञादि करता है, उसकी श्रद्धा सात्विकी है; और वह शिष्टाचार को जानते हुए या न जानते हुए भी ईश्वरार्पण बुद्धिपूर्वक उससे कुछ भिन्न भी करता है, तो भी वह दोष-रहित है। लेकिन जो क्रिया ईश्वरार्पण बुद्धि से नहीं की जाती, वह श्रद्धा-रहित मानी जाती है, और इसलिए असत् है।

[१७]

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचार को प्रमाण मानना चाहिए, यह सुनकर अर्जुन को शंका हुई कि जो शिष्टाचार को न मान सकें पर श्रद्धापूर्वक आचरण करें उसकी कैसी गति होती है। इस अध्याय में इसका उत्तर देने का प्रयत्न है। परन्तु शिष्टाचार रूपी दीपस्तम्भ छोड़ देने के बाद भी श्रद्धा में भय की सम्भावना बतलाकर भगवान् ने सन्तोष माना है। और इसलिए श्रद्धा और उसके आधार पर होनेवाले यज्ञ, तप, दान आदि के गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये हैं और 'ॐ तत् सत्' की महिमा गाई है।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण! शास्त्रविधि अर्थात् शिष्टाचार की परवाह न कर जो केवल श्रद्धा से ही पूजादि करते हैं उनकी गति कैसी होती है?—सात्त्विक, राजसी या तामसी? १

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिना सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—

मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की श्रद्धा अर्थात् सात्त्विकी, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन । २

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभाव का अनुसरण करती है । मनुष्य में कुछ न कुछ श्रद्धा तो होती ही है । जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा वह होता है । ३

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक लोग देवताओं को भजते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसों को भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूत-प्रेतादिको भजते हैं । ४

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

दम्भ और अहंकार वाले काम और राग के बलसे प्रेरित जो लोग शास्त्रीय विधि से रहित घोर तप करते हैं वे मूढ़ लोग शरीर में स्थित पञ्च महाभूतों को और अन्तःकरण में विद्यमान मुझ को भी कष्ट देते हैं। ऐसों को आसुरी निश्चयवाले जान। ५-६

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहार भी तीन प्रकार से प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकार से प्रिय होता) है। उसका यह भेद तू सुन। ७

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयुष्य, सात्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ानेवाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ९

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

पहरभरसे पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता है। १०

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जिसमें फल की इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्त्तव्य समझकर, मन को उसमें पिरोकर होता है वह यज्ञ सात्त्विक है। ११

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो फल के उद्देश्य से और साथ ही दम्भ से होता है उस यज्ञ को राजसी जान। १२

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

जिसमें विधि नहीं है, अन्नकी उत्पत्ति नहीं है, मन्त्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उस यज्ञ को बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते हैं। १३

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है। १४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

दुःख न देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्मग्रन्थों का अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है। १५

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम, भावना-शुद्धि—यह मानसिक तप कहलाता है। १६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

समभावयुक्त पुरुष जब फलेच्छा का त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक यह तीन प्रकार का तप करते हैं तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं। १७

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक होता है वह अस्थिर और अनिश्चित तप राजस कहलाता है। १८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरे के नाश के लिए होता है वह तामस तप कहलाता है। १९

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

'देना उचित है,' ऐसा समझकर बदला मिलने की आशा के बिना, देश, काल और पात्र को देखकर जो दान दिया जाता है उसे सात्त्विक दान कहा है। २०

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान बदला मिलने के लिए अथवा फल को लक्ष्यकर और दुःख के साथ दिया जाता है वह राजसी दान कहा गया है । २१

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

देश, काल और पात्र का विचार किये बिना, बिना मान के, तिरस्कार से दिया हुआ दान तामसी कहलाता है । २२

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ब्रह्म का वर्णन 'ॐ तत् सत्' इस तरह तीन प्रकार से किया है और इसके द्वारा पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए । २३

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिए ब्रह्मवादी 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाएँ सदा विधिवत करते हैं। २४

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्चविविधाःक्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः २५

और, मोक्षार्थी 'तत्' का उच्चारण करके फल की आशा रक्खे बिना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियाएँ करता है । २५

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते २६

सत्य और कल्याण के अर्थ में सत् शब्द का प्रयोग होता है । और हे पार्थ ! भले कामों में भी सत् शब्द व्यवहृत होता है । २६

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दान में दृढ़ता को भी सत् कहते है । तत् के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है । २७

टिपप्णी—उपरोक्त तीन श्लोकों का भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिए, क्योंकि ॐ ही सत् है, सत्य है । उसे अर्पण किया हुआ ही फलता है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप या दूसरा कार्य विना श्रद्धा के होता है वह असत् कहलाता है । वह न तो यहाँ के काम का है, न परलोक के । २८

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्री मद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवादका श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

[१८]

मोक्षसंन्यासयोग

[पिछले सत्रहवें अध्याय का मनन करने के बाद अर्जुन के मन में और भी शंका रह जाती है; क्योंकि गीता का संन्यास उसे प्रचलित संन्यास से जुदा मालूम पड़ता है। क्या त्याग और संन्यास दो अलग चीज़ें हैं? इस शंका का निवारण करते हुए भगवान् इस अन्तिम अध्याय में गीता-शिक्षण का दोहन दिये देते हैं। कई-एक कर्म कामना-पूर्ण होते हैं। अनेक प्रकार की इच्छा पूरी करने के लिए लोग उद्यम करते हैं। यह काम्य-कर्म है। दूसरे आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं; जैसे श्वासोच्छ्वास लेना, देखना, देह की रक्षा के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही खाना, पीना पहनना, सोना, बैठना, वगैरा। तीसरे कर्म पारमार्थिक कर्म हैं। इन में से काम्य कर्मों का त्याग गीता का संन्यास है; और कर्म मात्र के फल का त्याग, गीतामान्य त्याग है। यह भले कहा जाय कि कर्म मात्र में थोड़ा दोष तो रहता ही है। फिर भी यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ किये जाने वाले कर्मों का त्याग नहीं किया जाता। यज्ञ में दान और तप का समावेश हो जाता है; लेकिन परमार्थ में भी आसक्ति—मोह—न होनी चाहिए। अन्यथा उसमें बुराई घुस जाने की संभावना है। मोहवश नियत कर्म का त्याग करना तामसी त्याग है। देह को कष्ट होगा, यह समझकर किया गया त्याग राजसी है; लेकिन जो सेवा-कार्य 'फल की इच्छा न रखकर करना

चाहिए' इसलिए, ऐसी भावना से किया जाता है, वही सच्चा सात्विक त्याग है; अर्थात् इस त्याग में कर्ममात्र का त्याग नहीं है, बल्कि कर्त्तव्य-कर्म के फल का त्याग है। और दूसरे अर्थात् काम्य-कर्मों का तो त्याग है ही। ऐसे त्यागी के दिल में शंकायें उठती नहीं, उसकी भावना शुद्ध होती है और वह सुविधा-असुविधा का विचार नहीं करता। जो कर्मफल का त्याग नहीं करते उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। और इस कारण वे बन्धन में रहा करते हैं। जिसने फल त्याग किया है, वह बन्धन-मुक्त होता है। और, कर्म का मोह क्या? यह अभिमान कि 'मैं ही करता हूँ' मिथ्या है। कर्ममात्र की सिद्धि में पाँच कारण होते हैं—स्थल, कर्त्ता, साधन, क्रियायें, और—इन सबके होते हुए भी अन्तिम—दैव। यह जानकर मनुष्य को अभिमान छोड़ना चाहिए। और जो 'अहंता' को छोड़कर कर्म करता है, उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह जो-कुछ करता है, सो करते हुए भी नहीं करता। क्योंकि वह कर्म उसे बाँधता नहीं। ऐसे निरभिमान-शून्यवत् बने-हुए मनुष्य के बारे में यह कहा जा सकता है वह मारते हुए भी नहीं मारता—इसका यह अर्थ नहीं होता कि कोई भी मनुष्य शून्यवत् होकर भी हिंसा करे और अलिप्त रहे, क्योंकि निरभिमान को हिंसा करने का प्रयोजन नहीं रहता। कर्म की प्रेरणा में तीन चीज़ें होती हैं—ज्ञान, ज्ञेय, और परिज्ञाता। इस प्रकार प्रेरणा होने के बाद जो कर्म होते हैं, उनमें इन्द्रियाँ कारण होती हैं, जो करना है, वह क्रिया है

और उसे करनेवाला कर्त्ता है; इस प्रकार विचार से आचार की उत्पत्ति होती है। जिसमें हम प्राणी-मात्र में एक ही भाव देखें, अर्थात् सब-कुछ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी गहरे पैठने पर, एक ही लगे, वह सात्त्विक ज्ञान है। इसके विपरीत जो भिन्न दीखता है, वह भिन्न ही प्रतीत हो तो वह राजस ज्ञान है। और जहाँ कुछ पता ही नहीं चलता और सब-कुछ बिना कारण मिलावट वाला—मिश्र—मालूम पड़ता है वह तामस ज्ञान है। ज्ञान की तरह कर्म के विभाग भी किये जा सकते हैं। जहाँ फलेच्छा नहीं, राग-द्वेष नहीं, वह कर्म सात्त्विक है; जहाँ भोग की इच्छा है, मैं करता हूँ ऐसा अभिमान है, और इस कारण धाँधली है, वह राजस कर्म है। जहाँ न परिणाम का, न हानि का, न हिंसा और न शक्ति का विचार है, और जो मोहवश किया जाता है, वह तामस कर्म है। कर्म की तरह कर्त्ता भी तीन प्रकार के जानो; यद्यपि कर्म को पहचानने के बाद कर्त्ता को पहचानने में कठिनाई हो ही नहीं सकती। सात्त्विक कर्त्ता वह है जिसे राग नहीं, अहंकार नहीं और फिर भी जिसमें दृढ़ता है साहस है और तिस पर भी जिसे भले-बुरे फल का हर्ष-शोक नहीं। राजस कर्त्ता में राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो होता ही है, तो फिर कर्म-फल की इच्छा की तो बात ही क्या? और जो व्यवस्था-हीन है, दीर्घसूत्री है, हठीला है, शठ है, आलसी है, संक्षेप में संस्कार-विहीन है, वह तामस कर्त्ता है। बुद्धि, धृति, और सुख के भी भिन्न-भिन्न प्रकारों को जान लेना अच्छा है। सात्त्विक बुद्धि,

प्रवृत्ति-निवृत्ति, अकार्य-कार्य, भय-अभय, बंध-मोक्ष, वग़ैरा का बराबर भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करती तो है, लेकिन बहुधा झूठा या उलटा भेद करती है, और तामसी बुद्धि तो धर्म को अधर्म मानती और सब-कुछ उलटा ही देखती है। धृति अर्थात् धारण, किसी भी चीज़ को ग्रहण करके उसपर डटे रहने की शक्ति। यह शक्ति कम-ज़्यादा परिमाण में सब में है। यदि न हो तो जगत् क्षण-मात्र के लिए भी न टिक सके। तो जिसमें मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया का साम्य है,समानता है, और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्य को निद्रा, भय, शोक,निराशा, मद वग़ैरा छोड़ने नहीं देती, वह तामसी है। सात्त्विक सुख वह है, जिसमें दुःख का अनुभव नहीं, जो आरंभ में भले ज़हर-सा लगे लेकिन हम जानते हैं कि परिणाम में वही अमृत-समान होगा; और जिसमें आत्मा प्रसन्न रहती है। विषय-भोग में, जो आरंभ में मीठा लगता, लेकिन बाद में ज़हर-सा बन जाता है, जो सुख है,वह राजस सुख है; और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, और निद्रा ही रहते हैं वह तामस सुख है। इस प्रकार हर एक चीज़ के तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मण आदि चार वर्ण भी इन तीन गुणों की कमी या अधिकता के कारण बने हैं। ब्राह्मण के कर्म में शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान अनुभव, और आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रिय में शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे न हटना, दान, राज्य-

चलाने की शक्ति होनी चाहिए। खेती, गौरक्षा, व्यापार वैश्य का तथा सेवा शूद्र का कर्म है। इसका यह अर्थ नहीं कि एक-दूसरे के गुण एक-दूसरे में होते ही न हों, या इन गुणों को बढ़ाने का एक-दूसरे को अधिकार ही नहीं, बल्कि ऊपर दिये गये गुण या कर्म के अनुसार उस-उस वर्ण की पहचान की जासकती है, लेकिन यदि प्रत्येक वर्ण के गुण-कर्मों को पहचाना जाय तो एक-दूसरे के बीच द्वेष-भाव पैदा न हो और न हानिकारक होड़ ही लगे। यहाँ ऊँच-नीच की भावना को स्थान नहीं। लेकिन यदि सब अपने स्वभाव के अनुसार निष्काम-भाव से अपने कर्म किया करें तो वे उन-उन कर्मों को करके मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। इसीलिए कहा भी है कि परधर्म भले सरल प्रतीत होता हो, और स्वधर्म निःसत्व-बेकार जान पड़ता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। संभव है कि स्वभाव-जन्य कर्म में पाप न हो, क्योंकि उसी में निष्कामता की रक्षा होती है। दूसरे, किसी चीज़ की इच्छा करने में ही कामना आजाती है। अन्यथा जिस प्रकार अग्निमात्र में धुआँ है, उसी प्रकार कर्ममात्र में दोष तो है ही। लेकिन सहज-प्राप्त कर्म फल की इच्छा के बिना किया जाय, तो कर्म का दोष नहीं लगता, और इस प्रकार जो स्वधर्म का पालन करते हुए शुद्ध बना है, जिसने मन को वश में रक्खा है, जिसने पाँचों विषयों का त्याग किया है, जिसने राग-द्वेष जीते हैं, जो एकान्त-सेवी अर्थात् अन्तर्ध्यान रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन और काया को अंकुश में रखता है, निरन्तर ईश्वर के ध्यान में लगा रहता है, जिसने अहंकार,

काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि का त्याग किया है, वह शान्त योगी ब्रह्मभाव को पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सब के प्रति समभाव से बरतता है और हर्ष, शोक नहीं करता। ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्व को पहचानता है और ईश्वर में लीन रहता है। इस प्रकार जो भगवान् का आश्रय लेता है, वह अमृत पद पाता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि सब मेरे अर्पण कर, मुझ में परायण बन, और विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर मुझ में चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी विडम्बनाओं से पार हो जायगा। लेकिन यदि अहंता रखकर मेरी बात न सुनेगा तो विनाश को प्राप्त होगा। तत्त्व की बात तो यह है कि तमाम प्रपंच छोड़कर मेरी ही शरण ले, जिससे तू पाप-मुक्त बनेगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुनने की इच्छा नहीं है, और जो मुझ से द्वेष करता है उसे यह ज्ञान न बतलाना। लेकिन यह परम गुह्य-ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी भक्ति करने के कारण अवश्य मुझे पावेगा। अन्त में संजय धृतराष्ट्र से कहता है—जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ है, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है, और अविचल नीति है। यहाँ कृष्ण को योगेश्वर विशेषण दिया है, जिससे उसका शाश्वत अर्थ शुद्ध अनुभव ज्ञान, होता है और और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह सूचित किया गया है कि जहाँ ऐसा अनुभव-सिद्ध ज्ञान का अनुसरण करने वाली क्रिया है, वहाँ परम नीति की अविरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

यरवदा-मंदिर ता० २१—२—३२]

[१८]

यह अध्याय उपसंहाररूप माना जा सकता है। इसका या गीता का प्रेरकमन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मों को तजकर मेरी शरण ले।' यह सच्चा संन्यास है। परन्तु सब धर्मों के त्याग का मतलब सब कर्मों का त्याग नहीं है। परोपकार के कर्मों में भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छाका त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या संन्यास है।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिसूदन ! सन्यास और त्याग का पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूँ। १

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—

काम्य (कामना से उत्पन्न हुए) कर्मों के त्याग

को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं। समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। २

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कितने ही विचारवान् पुरुष कहते हैं कि कर्ममात्र दोषमय होने के कारण त्यागने योग्य है; दूसरों का कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। ३

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरतसत्तम ! इस त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन । हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन प्रकार से वर्णन किया गया है। ४

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं वरन् करने योग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकी को पावन करनेवाले हैं। ५

एतान्यपि तु कर्माणि संग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम अभिप्राय है। ६

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। यदि मोह के वश होकर उसका त्याग किया जाय तो वह त्याग तामस माना जाता है। ७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ८

दुःखकारक समझकर काया-कष्ट के भय से जो कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग है और इससे उसे त्याग का फल नहीं मिलता। ८

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संग त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९

हे अर्जुन ! करना चाहिए, ऐसा समझकर जो नियत कर्म संग और फल के त्यागपूर्वक किया जाता हैवह त्याग ही सात्त्विक माना गया है। ९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

संशयरहित, शुद्धभावनावाला, त्यागी और बुद्धिमान, असुविधाजनक कर्म का द्वेष नहीं करता, सुविधावाले में लीन नहीं होता। १०

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

कर्म का सर्वथा त्याग देहधारी के लिए सम्भव नहीं है। परन्तु जो कर्मफल का त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है। ११

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

त्याग न करनेवाले के कर्म का फल कालान्तर में तीन प्रकार का होता है—अशुभ, शुभ और शुभाशुभ। जो त्यागी (संन्यासी) है उसे कभी नहीं होता। १२

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो! कर्ममात्र की सिद्धि के विषय में सांख्यशास्त्र में पांच कारण कहे गये हैं। वे मुझ से सुन। १३

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

वे पाँच ये हैं—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियायें और पांचवां दैव । १४

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर, वाचा अथवा मनसे जो कोई भी कर्म मनुष्य नीतिसम्मत या नीतिविरुद्ध करता है उसके पांच कारण होते हैं । १५

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होने पर भी असंस्कारी बुद्धि के कारण जो अपने को ही कर्ता मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नहीं । १६

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसमें अहंकारभाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इस जगत् को मारते हुए भी नहीं मारता, न बन्धन में पड़ता है । १७

टिप्पणी—ऊपर-ऊपर से पढ़ने से यह श्लोक मनुष्य को भुलावे में डालनेवाला है। गीता के अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्श का अवलम्बन करनेवाले हैं। उसका सच्चा नमूना जगत् में नहीं मिल सकता और उपयोग के लिए भी जिस तरह रेखागणित में काल्पनिक आदर्श आकृतियों की आवश्यकता है उसी तरह धर्म-व्यवहार के लिए है। इसलिए इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसकी अहंता खाक हो गई है और जिसकी बुद्धि में लेशमात्र भी मैल नहीं है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगत् को मार डाले। परन्तु जिसमें अहंता नहीं है उसे शरीर ही नहीं है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकालदर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान् हैं। वह करते हुए भी अकर्ता है। मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्य के सामने तो एक न मारने का और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म च कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कर्म की प्रेरणा में तीन तत्त्व विद्यमान हैं-ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्म के अंग तीन प्रकार के होते हैं—इन्द्रियाँ, क्रिया और कर्त्ता। १८

टिप्पणी—इसमें विचार और आचार का समीकरण है। पहले मनुष्य कर्त्तव्यकर्म (ज्ञेय), उसकी विधि (ज्ञान) को जानता है—परिज्ञाता बनता है, इस कर्मप्रेरणा के प्रकार के बाद वह इन्द्रियों (करण) द्वारा क्रिया का कर्ता बनता है। यह कर्मसंग्रह है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म और कर्त्ता गुणभेद के अनुसार तीन प्रकार के हैं। गुणगणना में उनका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा सुन। १९

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतों में एक ही अविनाशी भाव को और विविधता में एकता को देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान। २०

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

भिन्न-भिन्न (देखने में) होने के कारण समस्त भूतों में जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावों को देखता है उस ज्ञान को राजस जान। २१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिसके द्वारा एक ही कार्य में बिना किसी कारण के सब आ जाने का भास होता है, जो रहस्य-रहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है। २२

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

फलेच्छा-रहित पुरुष का आसक्ति और राग-द्वेष के बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है। २३

टिप्पणी—देखो, टिप्पणी ३-८

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

भोग की इच्छा रखनेवाले जो कार्य 'मैं करता हूँ', इस भाव से बड़े आयासपूर्वक करते हैं वह राजस कहलाता है। २४

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो कर्म परिणाम का, हानि का, हिंसा का और अपनी शक्ति का विचार किये बिना मोह के वश होकर मनुष्य आरंभ करता है वह तामस कर्म कहलाता है। २५

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते २६

जो आसक्ति और अहंकार-रहित है, जिसमें

दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलता में हर्ष-शोक नहीं करता वह सात्त्विक कर्त्ता कहलाता है। २६

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो रागी है, जो कर्मफल की इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, मलिन है, हर्ष और शोकवाला है वह राजस कर्त्ता कहलाता है। २७

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, घमंडी, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है वह तामस कर्त्ता कहलाता है। २८

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय ! बुद्धि और धृति के, गुण के अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हूँ, उन्हें सुन। २९

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्ध-मोक्ष का भेद जो बुद्धि (उचित रीति से) जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। ३०

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ३१॥

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का विवेक ग़लत ढंग से करती है वह बुद्धि, हे पार्थ ! राजसी है। ३१

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२

हे पार्थ ! जो बुद्धि अन्धकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है वह तामसी है। ३२

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३३

जिस एकनिष्ठ धृति से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को साम्य बुद्धि से धारण करता है, वह धृति हे पार्थ ! सात्त्विकी है ३३

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।३४॥

हे पार्थ ! जिस धृति से मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थ को आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।३५।।

जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मद को छोड़ नहीं सकता वह, हे पार्थ ! तामसी धृति है । ३५

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम् ३७।।

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकार के सुख का वर्णन मुझसे सुन । जिसके अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःख का अन्त होता है, जो आरम्भ में विष समान लगता है परिणाम में अमृत जैसा होता है, जो आत्मज्ञान की प्रसन्नता में से उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है । ३६-३७

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।

विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो आरम्भमें अमृत समान लगता है पर परिणाम में विष समान होता है, वह सुख राजस कहा गया है ३८

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरम्भ और परिणाम में आत्मा को मोह-ग्रस्त करनेवाला है और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है ३९

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ४०॥

पृथ्वी में या स्वर्ग में देवताओं के मध्य ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रकृति में उत्पन्न हुए इन तीन गुणों से मुक्त हो । ४०

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों के भी उनके स्वभावजन्य गुणों के कारण विभाग हो गये हैं । ४१

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्४२॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं। ४२

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान, शासन,—ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म हैं। ४३

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ४४॥

खेती, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्यके स्वभाव-जन्य कर्म हैं। और शूद्र का स्वभावजन्य कर्म सेवा है। ४४

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।४५॥

स्वयं अपने कर्म में रत रहकर मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन। ४५

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव ॥४६॥

जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा समस्त व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म-द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है। ४६

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

परधर्म सुकर होनेपर भी उससे विगुण ऐसा स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्य को पाप नहीं लगता ? ४७

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात् अपना कर्तव्य। गीता की शिक्षा का मध्यबिन्दु कर्मफलत्याग है, और स्वकर्म की अपेक्षा अधिक उत्तम कर्तव्य खोजनेपर फलत्याग के लिए स्थान नहीं रहता, इसलिए स्वधर्म को श्रेष्ठ कहा है। सब धर्मों का फल उसके पालन में आ जाता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

हे कौन्तेय ! स्वभावतः प्राप्त कर्म सदोष होने पर भी छोड़ना न चाहिए। जिस प्रकार अग्निके साथ धुएँ का संयोग है उसी प्रकार सब कामों के साथ दोष मौजूद है। ४८

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जिसने सब कहीं से आसक्ति को खींच लिया है, जिसने कामनाओं को त्याग दिया है, जिसने मन को जीत लिया है, वह संन्यास-द्वारा निष्कामता रूपी परमसिद्धि पाता है। ४९

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौन्तेय! सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य ब्रह्म को किस प्रकार पाता है, सो मुझसे संक्षेप में सुन। ज्ञान की पराकाष्ठा वही है। ५०

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ५१
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसा योगी दृढ़ता-पूर्वक अपनेको वशमें करके, शब्दादि विषयों का त्याग कर, रागद्वेष को जीतकर, एकान्त-सेवन करके, अल्पाहार करके, वाचा, काया और मन को अंकुश में रखकर, ध्यानयोग में नित्य परायण

रहकर, वैराग्य का आश्रय लेकर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्यागकर, ममता-रहित और शान्त होकर ब्रह्मभाव को पानेयोग्य बनता है। ५१-५२-५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है; भूतमात्र में समभाव रखकर मेरी परमभक्ति पाता है। ५४

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

मैं कैसा और कौन हूँ इसे भक्तिद्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है। ५५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरा आश्रय ग्रहण करनेवाला सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत, अव्ययपद को पाता है। ५६

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मन से सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके, मुझ में परायण होकर, विवेकबुद्धि का आश्रय लेकर निरन्तर मुझ में चित्त लगा । ५७

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मुझ में चित्त लगाने पर कठिनाइयों के समस्त पहाड़ मेरी कृपासे पार कर जायगा, किन्तु यदि अहंकार के वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश हो जायगा । ५८

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अहंकार के वश होकर 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है । तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ़ बलात्कार से घसीट ले जायगा । ५९

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यवशोऽपि तत् ।६०।

हे कौन्तेय ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण तू जो मोह के वश होकर नहीं करना चाहता वह बरबस करेगा। ६०

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है और अपनी माया के बल से उन्हें चाकपर चढ़े हुए घड़े की तरह घुमाता है। ६१

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२

हे भारत ! तू सर्वभाव से उसकी शरण ले। उसकी कृपा से परमशान्तिमय अमरपद को पावेगा। ६२

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गुह्य से गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कहा। इस सारे का भलीभांति विचार करके तुझे जो अच्छा लगे सो कर। ६३

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

और सब से गुह्य ऐसा मेरा परम वचन सुन। तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझसे तेरा हित कहूँगा। ६४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है। ६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।६६।

सब धर्मों का त्याग करके एक मेरी ही शरण ले। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा। शोक मत कर। ६६

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उसमे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। ६७

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

परन्तु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा वह मेरी परमभक्ति करने के कारण निःसन्देह मुझे ही पावेगा । ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उसकी अपेक्षा मनुष्यों में मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं है और इस पृथ्वी में उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होनेवाला भी नहीं है । ६९

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

हमारे इस धर्म्यसंवाद का जो अभ्यास करेगा, वह मुझे ज्ञानयज्ञ द्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है । ७०

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

और जो मनुष्य द्वेष-रहित होकर श्रद्धापूर्वक

केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहाँ बसते हैं उस शुभलोक को पावेगा। ७१

टिप्पणी—इसमें तात्पर्य यह है कि जिसने इस ज्ञान का अनुभव किया है वही इसे दूसरे को दे सकता है। शुद्ध उच्चारण करके अर्थसहित सुना जानेवालों के विषय में ये दोनों श्लोक नहीं हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ! यह तू ने एकाग्रचित्त से सुना? हे धनंजय! इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट हो गया? ७२

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—

हे अच्युत। आपकी कृपा से मेरा मोह नाश हो गया है। मुझे समझ आ गई है, शंका का समाधान हो जाने से मैं स्वस्थ हो गया हूँ। आपका कहा करूँगा। ७३

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय ने कहा—

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह रोमाञ्चित करनेवाला अद्भुत संवाद मैंने सुना। ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ७५

व्यासजी की कृपा से योगेश्वर कृष्ण के श्रीमुख से मैंने यह गुह्य परमयोग सुना। ७५

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पवित्र संवाद का स्मरण कर-करके, मैं वारम्बार आनन्दित होता हूँ। ७६

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनःपुनः ॥७७॥

हे राजन्! हरि के उस अद्भुत रूप का स्मरण कर करके मैं बहुत विस्मित होता हूँ और वारम्बार आनन्दित होता रहता हूँ। ७७

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ हैं वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है। ७८

टिप्पणी— योगेश्वर कृष्ण से तात्पर्य है अनुभव-सिद्ध शुद्ध ज्ञान, और धनुर्धारी अर्जुन से अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया। इन दोनों का संगम जहाँ हो, वहाँ सञ्जय ने जो कहा उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवादका संन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ शान्ति

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के

प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १=)
३—तामिलवेद ।।।)
४—शैतान की लकड़ी अर्थात् व्यसन और व्यभिचार ।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ ।।≡)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १।।।-)
७—अनोखा ! १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।।।-)
९—यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १।।)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ।।।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ।।।=
१३—चीन की आवाज़ ।-) (अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) १।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर (गांधीजी) ।≡)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।)।।
२२—अँधेरे में उजाला ।≡)
२३—स्वामीजी का बलिदान ।-)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी ।)
२५—स्त्री और पुरुष ।।)
२६—घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १।।=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ।।=)
२९—आत्मोपदेश ।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन
(अप्राप्य) ॥-)

३१—जब अंग्रेज नहीं
आये थे— ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=)

३३—श्रीरामचरित्र १।)

३४—आश्रम-हरिणी ।)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)

३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)

३७—महान् मातृत्व की
ओर— ॥।=)

३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
(अप्राप्य)

३९—तरंगित हृदय ,, ॥)

४०—नरमेध १॥)

४१—दुखी दुनिया ॥)

४२—ज़िन्दा लाश ॥)

४३—आत्म-कथा (गांधीजी)
(दो खण्ड) २)
सजिल्द २।)

४४—जब अंग्रेज़ आये
(ज़ब्त) १।=)

४५—जीवन-विकास
अजिल्द १।) सजिल्द १॥)

४६—किसानों का बिगुल =)
(ज़ब्त)

४७—फाँसी ! ॥)

४८—अनासक्तियोग तथा
गीताबोध ।=)
अनासक्तियोग =)

४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका)
(ज़ब्त) ।=)

५०—मराठों का उत्थान
और पतन २॥) स० जि० ३)

५१—भाई के पत्र—
अजिल्द १॥) सजिल्द २)

५२—स्वगत— ।=)

५३—युग-धर्म (ज़ब्त) १=)

५४—स्त्री-समस्या
अजिल्द १॥) सजिल्द २)

५५—विदेशी कपड़े का
मुक़ाबला ॥=)

५६—चित्रपट ।=)

५७—राष्ट्रवाणी ॥=)

५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)

५९—रोटी का सवाल १)

६०—दैवी सम्पद् ।=)